गुरु गोबिन्दसिंह : विचार और चिंतन

Equestrian portrait of Guru Gobind Singh, nimbated
Kangra style, early 19th century
(COURTESY : *Dr. M. S. Randhawa, I.C.S.*)

डा॰ जयभगवान गोयल

H
294.66
G 748 G

H 294.66
G748G

INDIAN INSTITUTE OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY SIMLA

Vichar aur Chintan

गुरु गोबिन्दसिंह : विचार और चिंतन

Jaibhagwan

डा० जयभगवान गोयल
रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी स्नातकोत्तर प्रादेशिक-केन्द्र, रोहतक

CATALOGUED

Punjab University

पंजाब यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो, चंडीगढ़

Published by
BAL KRISHNA, M. A., *Secretary*,
Publication Bureau, Panjab University, Chandigarh

Copyright

Library IIAS, Shimla
H 294.66 G 748 G
00076610

Second Edition : 1971

H
294.66
G 748 G

Price : 2.40 P.

Indian Institute of Advanced Study
Acc. No. 76610
Date 18.7.94
Simla

Printed by
Shahdara Printing Press, Navin Shahdara, Delhi-32

गुरु गोबिन्दसिंह : विचार और चिन्तन

[वे सत्य का खड्ग, न्याय का खांडा, नीति की तुफंग और नाम का अग्निबाण लेकर धर्मयुद्ध के लिए निकले थे और असत्य, अन्याय और दुराचार की प्रतीक आसुरी शक्तियों की जड़ें हिलाने में उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई। जाति-पांति, वर्ग एवं वर्ण भेद और वर्णाश्रम के कट्टर विरोधी और मानव मात्र की एकता में विश्वास रखने वाले, सत्य और न्याय के लिये लड़ने वाले वे सच्चे 'धर्मवीर' थे। उनकी जीवन-दृष्टि आशामयी, उत्साहपूर्ण, आस्थावान थी और जीवन-चर्या साहसपूर्ण, संयमित, संतुलित एवं सात्विक।]

गुरु नानकदेव के जीवन पर आधारित अपने बृहदाकार प्रबन्ध काव्य 'नानक प्रकाश' में लोकनायक कवि संतोखसिंह गुरु गोबिन्दसिंह के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट करते हुए लिखते हैं :

अब और की आस निरास भई, कलगीधर बास कियो मन मांहि

सिक्खमत के संस्थापक गुरु नानकदेव का दिव्य चरित्र वर्णित करते हुए भी गुरु-भक्त संतोखसिंह द्वारा दशम गुरु के प्रति ऐसी आस्था प्रकट करने का एक ही कारण हो सकता है और वह यह कि गुरु गोबिन्दसिंह की जीवन-दृष्टि और आदर्श-प्रेरणा को वे अपनी युग-परिस्थितियों के परिवेश में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जागरण के लिए अधिक अनुकूल और उपयोगी समझते थे। दशमगुरु ने सिक्ख जीवन-विधि को एक नई दिशा दी। सदाचार, संयम, संतोष, सेवा और त्याग को जीवन का ध्येय मानने वाले गुरु-भक्तों को निर्भयता और साहस का जीवन अपनाने के लिए उत्साहित किया। ज़फरनामें में औरंगज़ेब की धर्मान्धता, आतंक, अनीति और अत्याचार का विरोध करते हुए उन्होंने उसे लिखा है :

चूं कार अज हमह हीलते दर गुजशत,
हलाल अस्त बुरदन ब शमशेर दस्त।२२।

अर्थात् जब सभी अन्य साधन विफल हो जायें तो अत्याचार और अधर्म के विरुद्ध खड्ग को धारण करना सर्वथा उचित है। इसी नीति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने देखा कि जब गुरु तेगबहादुर का शांतिपूर्ण बलिदान यवनों के अत्याचारों को दूर करने में सफल न हुआ तो उन्होंने 'खालसा' की स्थापना की। धर्मयुद्ध में जूझते रहने और शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए 'अकाल पुरुष' से वरदान याचना करते हुए वे कहते हैं :

देहि शिवा वर मोहि इहै सुभ करमन ते कबहूं न टरों।
न डरों अरि सों जब जाइ लरों निसचै कर आपनी जीत करों।
अरु सिख हों आपने की मन को इह लालच हउ गुन तउ उचरों।
जब आव की अउध निदान बने अति ही रन में तब जूझ मरों।

दशमगुरु की यह वीर-भावना उनकी लगभग सभी मुख्य रचनाओं में परिव्याप्त है। 'कृष्णावतार' में वे लिखते हैं :

दसम कथा भागौत की भाषा करी बनाइ।
अवर बासना नाहि प्रभ धरम जुद्ध की चाइ।२४९१।

'अकाल उस्तुति' गुरु गोबिन्दसिंह की एक प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण रचना है, जो कि गुरुमुखी लिपि में 'दशमग्रंथ' के अन्तर्गत मुद्रित हो चुकी है। उनकी रचनाओं में धार्मिक दृष्टि से 'जापु' के पश्चात् इसी का स्थान है। इसमें कुल २७२ छन्द हैं और दोहा, चौपई, कवित्त, सवैया, त्रिभंगी, निराज, भुजंगप्रयात, तोटक आदि १२ छन्दों का प्रयोग हुआ है।

यह भक्ति प्रधान रचना है जिसमें ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए उसके प्रति भक्ति-भावना प्रकट की गई है। परन्तु गुरु जी की वीर-प्रवृत्ति का आभास ग्रंथ के आरम्भ में ही हो जाता है, जब वे 'अकाल पुरुष' का स्मरण 'सर्वलोह' के रूप में करते हैं यथा :

"अकाल पुरख की रच्छा हमने, सरब लोह की रच्छिया हमने"

'अकाल पुरुष' उनके लिए सर्वलोह (खड्ग) है, वह सर्वलोह जिससे उन्होंने अधर्म, अनीति, अन्याय, अत्याचार का विनाश करके धर्म, नीति, न्याय की स्थापना करने का प्रण लिया था। वह (ब्रह्म) ऐसा सर्वलोह इसलिए भी है, क्योंकि वह स्वयं ही 'दुष्ट-विदारक', असुर संहारक है, दुष्ट दमनकारी है। 'विचित्र

नाटक' के आरम्भ में गुरु जी ने असुर संहारक इस खड्ग की निष्ठापूर्वक बंदना की है ।[1]

'चण्डी चरित्र' में उन्होंने दुर्गा के असुरों के साथ युद्धों का विशद एवं ओजपूर्ण वर्णन किया है जो 'मार्कण्डेय पुराण' की कथा का अनुवाद ही है। ऐसी कथाओं का वर्णन देशवासियों में अन्याय और अधर्म के विरुद्ध खड़ा होकर लड़ने का उत्साह पैदा करने के लिए किया गया है । ठीक वैसे ही जैसे 'चौबीस अवतारों' की कथाओं का वर्णन पौराणिक आधार पर किया गया है, यद्यपि पुराणों के अवतारवाद में उनका कोई विश्वास नहीं था । अत: इन कथाओं के निरूपण से यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि गुरु जी किसी देहधारी देवी के उपासक थे । सिक्खमत में किसी भी प्रकार के देवी-देवता की आराधना का घोर खंडन किया गया है[2] और गुरु गोबिन्दसिंह ने इसी धारणा को मान्यता दी है ।

'अकाल उस्तुति' के अन्तर्गत भी गुरु जी ने २० छन्दों में 'दुर्गासप्तशती' के आधार पर महिषासुर मर्दनी, असुर अघनी चण्डी की स्तुति की है[3]। कई विद्वानों ने गुरु जी की देवी-उपासना सम्वन्धी मूल भावना को ध्यान में न रखते हुए या तो इसे क्षेपक कहा है, या इसकी वास्तविक स्थिति 'चण्डी चरित्र' के साथ मानने का आग्रह किया है । कुछ ने इसके साथ कुछ कल्पित प्रसंगों की संगति बिठाने की चेष्टा की है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि किसी ब्राह्मण को प्रभावित करने के लिए 'दुर्गासप्तशती' के अनुवाद मात्र के रूप में गुरु जी ने इन छन्दों का उच्चारण किया था । परन्तु हम समझते हैं कि यदि हम गुरु जी की वीर-प्रवृत्ति और भक्ति-भावना, उनकी जीवन दृष्टि और धार्मिक सिद्धान्तों का सही रूप में मूल्यांकन कर सकें तो इस प्रकार की असंगतियों की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी । यहां गुरु जी ने चण्डी के जिस असुर-संहारक और संत-रक्षक रूप को निरूपित किया है वह उनकी राष्ट्रीय चेतना एवं वीर-भावना के सर्वथा अनुकूल है और उनके धार्मिक विश्वासों से भी उसका कोई विरोध नहीं है । गुरु गोविन्दसिंह ने जिस देवी, चण्डी या दुर्गा की स्तुति की है, वह कोई देहधारी देवी नहीं है । वह 'अकाल पुरुष' की आदि और अनंत

1. 'बिचित्र नाटक' १:२,
2. आदि ग्रंथ : म० ५, आसा म० १, आसा म० ५, सारंग : म० ५
3. अकाल उस्तुति : २२०-२३० ।

शक्ति है[1] । परन्तु शक्ति से यहां यह भ्रांति नहीं होनी चाहिए कि वे शाक्तों की भांति ब्रह्म की किसी पृथक् शक्ति में विश्वास रखते थे। गुरु जी का ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य 'शक्ति' के अस्तित्व में कोई विश्वास नहीं था। देवी को उन्होंने विश्व का सृजन, पालन और संहार करने वाली कहा है, परन्तु वह 'अकाल पुरुष' से भिन्न, उससे पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रखती। वह उस से अभिन्न है, स्वयं ही अकाल पुरुष है। 'अकाल पुरुष' को ही वे इस सृष्टि का कर्त्ता और कारण मानते हैं, किसी अन्य शक्ति की मध्यस्थता में उनका कोई विश्वास ही नहीं था। जैसे उन्होंने 'अकाल पुरुष' को गोविन्द, कृष्ण, राम आदि नामों से अभिहित किया है, वैसे ही उसे दुर्गा, चण्डी, देवी भी कहा है। ब्रह्म का वह रूप जो सृष्टि का निर्माण, पालन और संहार करता है, उसे ही देवी या चण्डी कहा है[2], वह अकाल पुरुष की ही बोधक है। 'चौबीस अवतार' में भी उन्होंने यही कहा है कि वह भवानी 'अकाल पुरुष' से भिन्न नहीं है। यथा :

प्रथम काल सभ जग को ताता। तां ते भयो तेज विख्याता।
सोई भवानी नाम कहाई। जिन सगरी यह स्रिसटि उपाई।२६।

यहां भवानी अकाल पुरुष से भिन्न कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं रखती। 'विचित्र नाटक' में जो उन्होंने कहा :

सरव काल है पिता अपारा। देवि कालका मात हमारा। १४।५।

यहां भी कवि का अभिप्राय 'कालका' से महाकाल अथवा अकाल-पुरुष से ही है, उससे पृथक् किसी देवी विशेष से नहीं। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए 'विचित्र नाटक' का वह उद्धरण प्रस्तुत किया जा सकता है, जहां उन्होंने 'कालका' को स्वयं 'महाकाल कालका' कहा है। यथा :

"तह हम अधिक तपस्या साधी। महाकाल-कालका अराधी।१।"

इसी प्रसंग में उन्होंने महाकाल कालका को अकाल पुरुष भी कहा है। किसी भी देहधारी देवी, भवानी को तो गुरु जी ने अकाल-पुरुष के चरणों की दासी कहा है। जैसे—

"अनहद रूप अनाहद बानी। चरन सरन जिह बसत भवानी।"

---

1. जै जै होसी महिषासुर मरदनि आदि जुगादि अगाध गते।
(अकाल उस्तुति : २२४)

2. जै जै होसी महिषासुर मरदति विसु बिघंसन स्रिसटि करे।२२५। वही।

राम, कृष्ण, विष्णु, ब्रह्मा आदि के समान ऐसी अनेक (अकाल उस्तुति : ५) देवियां उत्पन्न हुईं और विनष्ट हुईं। यथा—

"कई देवि आदि कुमार। कई किसन विसन अवतार।"

(अकाल उस्तुति : ३६)

वस्तुतः, 'अकाल उस्तुति' में देवी-स्तुति प्रसंग किसी भी भांति गुरुमत विरोधी नहीं है। 'अकाल उस्तुति' की देवी असुरों की संहारक और संतों की रक्षक है[1]। वह स्वयं अकाल पुरुष है, जिसके दुष्टदमनकारी और संत-रक्षक रूप का निरूपण 'अकाल उस्तुति' की एक विशिष्टता है। दशमगुरु ने धर्म-स्थापन के लिए जिस वीर-धर्म और वीर-कर्म का पालन किया, उसके अनुरूप ही उन्होंने अकाल पुरुष के दुष्ट-विदारक, असुर-विनाशक रूप का प्रतिपादन किया है[2]। उसके इस रूप को उन्होंने देवी, चण्डी, भवानी, कालिका आदि नाम दिये हैं जो अकाल-पुरुष से भिन्न अथवा पृथक् कदापि नहीं हैं। वह उसकी शक्ति है, उसके साथ अभेद-स्वरूपा है। इसलिए उसे अभेद, अछेद, अलख, अनंग कहा गया है[3]। अतः जब कवि ब्रह्म के स्वरूप का विशद निरूपण करना चाहता है, उसके सभी रूपों पर प्रकाश डालता है और उसे दुष्टदमनकारी भी कहता है तो उसके इस दुष्टदमनकारी रूप (दुर्गा, चण्डी, देवी, कालका) का वर्णन न करना एक बड़ी भारी कमी होती जब कि यह उनकी वीर-भावना के अनुरूप है और धर्म-युद्ध की भावना को बल देता है। धर्म-युद्ध के लिए ओज, उत्साह और प्रेरणा पैदा करने वाले ब्रह्म के उस स्वरूप की कवि ने निष्ठा पूर्वक वंदना की है। यह उनकी भक्ति-भावना का अंग भी है और वीर-भावना का प्रतीक भी। यह युग-चेतना के भी अनुकूल है।

जब-जब होत अरिसटि अपारा, तब तब देह धरत अवतारा।

(चौ० अवतार : २)

पुराणों की दुष्टदमनकारी इस भावना का आरोपण दशमगुरु ने अकाल-पुरुष में ही किया और उसे चण्डी, दुर्गा, भवानी, कालका, महाकाल आदि का नाम

---

1. पापान विहंडन दुशट प्रचंडन, खंड अखंडन काल कटे।

(अकाल उस्तुति : २२६।)

2. अकाल उस्तुति : २५५। वही : २२४, २२५, २२८, २३५।

3. अकाल उस्तुति : २२५।

दिया। अन्यत्र भी उन्होंने अकाल-पुरुष को असिधारी, खड्गधारी, असिपाणि, खड्गपाणि, धनुषधारी आदि कहा है। वह वीर रस उत्पन्न करने वाला और धर्मयुद्ध में उनकी रक्षा करने वाला है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि 'अकाल उस्तुति' में भी हम उनकी वीर प्रवृत्ति के दर्शन करते हैं जो उनके जीवन और काव्य की एक प्रमुख भावना है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि गुरु गोबिन्दसिंह एक साहसी शूरवीर और यशस्वी योद्धा थे और भारतीय तथा पाश्चात्य इतिहासकारों ने उनके इस रूप का काफी सीमा तक समुचित मूल्यांकन किया है, परन्तु जहां उनका युद्धवीर रूप राजनैतिक इतिहास लेखकों की चर्चा का विषय रहा है, वहां उनका भक्त अथवा संत एवं दार्शनिक रूप उनके द्वारा प्राय: उपेक्षित ही रहा है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गुरु गोविन्दसिंह पहले एक धर्म-प्रचारक अथवा धर्म-संस्थापक थे और वाद में योद्धा। उनका दूसरा रूप पहले का ही एक साधन था। इस धरातल पर अपने आगमन के उद्देश्य को स्पप्ट करते हुए वे लिखते हैं :

मैं हौ परम पुरख को दासा। देखन आयो जगत तमासा।
हम इह काज जगत मों आए। धरम हेत गुरु देव पठाये।
जहां तहां तुम धरम विथारो। दुसट दोखीयनि पकरि पछारो।४२।

गुरु नानक ने पंजाब में निर्गुण भक्ति प्रधान जिस सिक्खमत की नींव डाली थी, परवर्ती गुरुओं ने उसी को विकसित एवं समृद्ध किया। गुरु गोबिन्दसिंह इसी परम्परा के अन्तिम एवं प्रतिष्ठित विद्वान संत थे। उन्होंने वीर-भावना का संचार कर सिक्ख-अनुयायियों को एक नई दिशा अवश्य दी, परन्तु उनकी धार्मिक अथवा आध्यात्मिक भावना मूलरूप में पूर्व गुरुओं के ही अनुरूप थी। उनके साहित्य में दार्शनिक तत्व अथवा आध्यात्मिक विचार बहुत ही पुप्ट, प्रौढ़ एवं सुस्पष्ट हैं। उन्होंने आध्यात्मिकता पर विशद प्रकाश डाला है, यद्यपि उनके विचार विशुद्ध ज्ञानमार्गियों की भांति क्रमवद्ध और संगठित रूप में प्रकट नहीं हुए। उनके दार्शनिक विचार और आचार सम्बन्धी दृप्टिकोण 'दशम ग्रंथ' में अनेक स्थलों पर मोतियों की भांति विखरे हुए हैं। सुरुचि एवं सुदृप्टि से यदि उन्हें संकलित किया जाए, तो एक बहुत ही सुन्दर माला बन सकती है। मुख्य रूप से 'जाप साहिब', 'अकाल उस्तुति', 'विचित्र नाटक' (अध्याय २-४), 'चौवीस अवतार' (१-३४ छन्द), 'रामावतार' (छन्द २०४, २०५, ६६६, ६६४, ७०६, ७०७, ८५६), 'कृष्णावतार' (४३४, २४९१, २४९२, २९९९), 'ब्रह्मा-वतार' (१-१९), 'रुद्रावतार' (७९-१०९), 'ज्ञान-प्रवोध', 'शब्द-हज़ारे,'

'श्री मुखवाक सवैये' आदि में उनके ब्रह्म, जीव-आत्मा, सृष्टि, जगत, माया, अवतार, कर्म, ज्ञान, विरक्ति, योग, भक्ति आदि से सम्बन्धित विचार देखे जा सकते हैं।

'जापु साहब' एवं 'अकाल-उस्तुति' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। इनमें गुरु जी ने ब्रह्म के स्वरूप, सृष्टि रचना, आत्मा एवं जीव के स्वरूप और स्थिति, जगत की नश्वरता और क्षण-भंगुरता, आवागमन आदि पर विशदता से प्रकाश डाला है। ज्ञान, कर्म, योग, विरक्ति आदि के स्वरूप और महत्त्व को दर्शाते हुए भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है और बाह्याचारों, मिथ्याडम्बरों, पाखंडपूर्ण साधनाओं का खंडन करते हुए सहज और शुद्ध आचरण, मानवतावादी भावना और नाम-स्मरण पर बल दिया है।

गुरु गोबिन्दसिंह का भारतीय अध्यात्म और विशेष रूप से 'आदि ग्रंथ' का विशद अध्ययन था और साथ ही उन्होंने अपने युग में प्रचलित विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायों की विचारधारा और साधना पद्धतियों का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया था। ऐसा कहा जाता है कि उन्हें सम्पूर्ण 'आदिग्रंथ' और भक्त वाणी कण्ठस्थ थी और भाई मनीसिंह से उन्होंने गुरुवाणी स्वयं बोल कर लिपिबद्ध कराई थी। इसीलिये उनकी वाणी पर 'आदि ग्रंथ' का इतना गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है।

ब्रह्म का स्वरूप :

गुरुओं के ब्रह्म सम्बन्धी विचार बहुत कुछ अद्वैतवादियों के अनुरूप हैं। उन्होंने ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, अलख, अगोचर, निरंजन, अभेद, अव्यक्त माना है और साथ ही उसे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, कर्त्ता-पुरुष, दाता, दयालु, कृपालु, स्वामी कहकर उसके सगुण रूप को स्वीकार करते हुए उसकी भक्ति का निरूपण किया है। हालांकि उसके अवतारी रूप का उन्होंने स्पष्ट रूप से खंडन किया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में गुरुमत का बीजमंत्र इस प्रकार है :

'१ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैर अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।'

अर्थात् वह सत्ता एक है, सदा एक रहने वाली है, सब वस्तुओं में व्यापक होकर सबको धारण करने वाली है, सब वस्तुओं को उत्पन्न करने वाली है, अपनी सृष्टि में व्यापक है। बिना भय के है, बिना वैर के है। उस पर समय

का प्रभाव नहीं पड़ता, वह जन्म मरण से रहित है। उसका प्रकाश अपने आप से ही है तथा गुरु की कृपा से जानी जाती है।

प्रायः सभी गुरुओं ने ब्रह्म के इसी रूप को स्वीकार किया है और उनके ये विचार कबीर, दादू, सुन्दरदास, रैदास आदि सभी संतों से मेल खाते हैं। 'आदि ग्रंथ' में निर्गुण और सगुण की अभेदता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि 'जो निर्गुण है वही सगुण भी है' क्योंकि सारी सृष्टि का वही कर्त्ता है, वही कण कण में व्याप्त, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है।

निरगुन हरिआ। सरगुन धरिआ। (आदि ग्रंथ-रागु सुही महला ५।१।१।४६)
निरगुणु सरगुणु आपे सोई। (वही, माझ महला ३।१।३१।३२।)
निरगुणु आपि सरगुनु भी ओही। (वही, गउड़ी सुखमनी महला ५।२।२८।)

गुरु गोविन्दसिंह ने भी 'अकाल उस्तुति' में ब्रह्म का इसी रूप में निरूपण किया है। उनके अनुसार वह '१ओंकार, आदि पुरुष, अव्यक्त, अविनाशी, अकाल, अद्वैत, अलख, अविगत[1], अक्षय, राग-रूप-रंग, रेख, वर्ण-चिह्न रहित, अविकारी[2] राग-द्वेष, माता-पिता, जाति-पांति, शत्रु-मित्र रहित[3]' अजन्म, भ्रमरहित परमपुरुष, निर्गुण और निराकार है। वह स्त्री है न पुरुष[4], अदेश, अनादि और अनंत है[5]। वह माया रहित, इच्छा रहित और निरंजन है[6]। उसे किसी प्रकार भी जाना नहीं जा सकता[7]। ब्रह्मा, विष्णु भी उसका अन्त नहीं पा सकते, वे चारों मुखों से उसे 'नेति, नेति' कहते हैं[8]। गंधर्व, देवता, यक्ष, कृष्ण, राम, इन्द्र आदि सभी विचार करते हैं, मगर उस निराकार का पार नहीं पा सकते।[9] बहुत से लोग शरीर पर शीत, गर्मी और वर्षा सहते हैं। समाधि लगाकर कई कल्प बिता देते हैं, कई प्रकार के योग साधते हैं, तब भी उस अलख, अरूप का अंत नहीं पा सकते, जिसे वेद 'नेति-नेति' और कतेब 'अलख' कहते हैं।[10]

गुरु गोविन्दसिंह पूर्व गुरुओं की भांति ब्रह्म के सगुण रूप का भी इस प्रकार निरूपण करते हैं कि वह मायापति[11], सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्व-

---

1. वही, २, 2. वही, ३, २३६, 3. वही, ४, 4. मही, २६१, 5. जिह आदि अंत नहीं रूप रास, वही, १२६, 6. वही, २५२-२६३, 7. खोज थके सभ ही खुजिआ सुर, हार परे हरि हाथ न आवे, वही, २४६, 8. वही ५, 9. वही २५७, 10. वही, १२१-१२६, 11. वही, १,

कालदर्शी[1], सर्वोपरि[2], कण कण में व्याप्त, कीट कुंजर में समान रूप से स्थित, घट घट का अन्तर्यामी[3], जल, थल, हृदय, वन, पर्वत, आकाश, यहां, वहां सर्वत्र विद्यमान[4], त्रिलोक व्यापी[5], चौदहों लोकों में प्रकाशवान[6] महाकाल का भी काल, जगतपति, विश्वम्भर[7], अपार रूपवान-अनंतरूप, अतुल प्रताप, अनाहद-वाणी, करोड़ों इन्द्रों, वामन, ब्रह्मा, रुद्र, राम, कृष्ण, मुहम्मद, दैत्यों देवों, शेषनाग, गंधर्व, यक्ष को बनाने और खपाने वाला[8], स्वेदज, अंडज, जेरज, उदभिज—चारों योनियों की रचना करने वाला[9], सभी का कर्त्ता, पालक, संहारक, रोग, शोक, दोष का हरता, मुक्ति-प्रदाता, अकलंक[10], सूर्य, चन्द्र, जल, थल, आकाश, पवन, अग्नि और रात दिन का निर्माता[11], भूत, भविष्य, वर्तमान में विद्यमान[12], दुष्टहंता[13], वैरियों का घातक[14], युद्ध का जितैया[15], अनाथ-नाथ[16], दयालु, कृपालु, भयत्राता[17], दाता, पवित्र[18], शुद्ध, सिरताज[19], दीनबन्धु, स्वामी[20], सब जीव-जन्तुओं की पालना करने वाला, राजक रहीम[21], है। परन्तु सृजन, संहार, पालन आदि का कार्य वह 'अकाल-पुरुष' ही करता है। विष्णु या ईश्वर नहीं जैसा कि कुछ अन्य मतों में माना गया है।

वस्तुतः, उन्होंने ब्रह्म का 'नेति नेति' और तत्त्वमसि—दोनों रूपों में स्मरण किया है। एक ओर उसे 'नेति नेति' और, 'बिअंत बिअंत' कहा है[22]। तो दूसरी ओर उसका 'तूहीं तूहीं', 'तुहीं तुहीं', 'तुहीं तुहीं', 'तुहीं तुहीं'। जल हरि थले हरि—[23] के रूप में निरूपण किया गया है। वह उसे एक रूप और सर्वरूप भी मानते हैं और अरूप भी। उनके अनुसार कहीं वह हिन्दू होकर गुप्त गायत्री पाठ करता है, कहीं तुर्क होकर बांग देता है, कहीं मुंडिया, कहीं योगी, कहीं पुराण-पाठी, कहीं कुराणपाठी, कहीं त्रिगुणातीत, कहीं सर्व-गुण सम्पन्न, कहीं यती, कहीं क्षत्रिय, कहीं जटाधारी, कहीं कामी, कहीं दैत्य, कहीं दानी, कहीं भिखारी, कहीं राजा, कहीं रंक, कहीं कीट, कहीं कुंजर, कहीं

---

1. वही, ५१, १६४, ५, वही, ८, 2. वही, २, 3. सर्व ठौर विखै रमियो, रमियो, वही, 4. वही, ४, 5. वही, १, 6. वही, १६४, 7. वही, १५२, ३०, ३२, ३६, ६, 8. वही, १४८, 9. वही, ३३, 10. वही, १५१-१५२, २४६, 11. वही, ६२, 12. वही, ६२, 13. वही, १६४, 14. वही, १६४, 15. वही, १५३, 16. वही, १६२, 17. वही, ७५, 18. वही, १२२, 19. वही, १७२, 20. वही, १६० सभ वार पार जाको प्रभाउ-२३३, करुण निधान, क्रिपाल दयालु-२३६, 21. वही, २३६, २६६, 22. २१६, 23. वही, ६६,

सुन्दर, कहीं कुरूप, कहीं ब्राह्मण, कहीं मुसलमान, कहीं बालक, कहीं वृद्ध, सर्वत्र सभी कुछ वही है[1] । वह अशरीरी भी है और तेजयुक्त भी, रूपवान भी है और नाशरहित भी, द्वैत से युक्त भी है और आशा रहित भी, दाता भी है और बेअंत भी, सर्वत्र उसी का प्रसार और प्रकाश है, सातों आकाशों और सातों पातालों में उसी अदृश्य का विस्तार है[2] । वह सब से दूर और सबके निकट है, पूर्ण प्रकाश है।

मध्यकाल में उत्तर भारत में कितने ही सम्प्रदाय प्रचलित थे, जो परमात्मा को अलग-अलग नाम से पुकारते थे और आपस में लड़ते रहते थे । गुरु गोविन्दसिंह ने इन सम्प्रदायों द्वारा दिये गये ब्रह्म के सभी नामों को ग्रहण किया है—विष्णु सहस्रनाम की शैली में उसके असंख्य नामों और रूपों का उल्लेख किया है, यद्यपि वे बार बार इस तथ्य को स्पष्ट करते जाते हैं कि उसका कुछ भी नाम रख लिया जाए, वह रूप रहित, भेद रहित और नाम रहित है । पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, अरब, चीन, तिब्बत, द्रविड़ सभी स्थानों पर उसे ही ध्याते हैं, नाम भले ही भिन्न रख लें[3] ।

अवतारवाद

'आदि ग्रंथ' में ब्रह्म के लिए राम, श्याम, गोबिन्द, हरि आदि नाम आए हैं । यथा :

गोबिन्द गोविन्दु गोबिन्दु हरि गोबिन्दु गुणु निधान । (महला ४, वार कानड़)
राम राम राम कीरतनु गाइ । राम राम राम सदा सहाइ ।
(महला ५, राग गोंड)

सिआम सुंदर तजि नींद किउ आइ (५, सूही)

परन्तु वहां गोबिन्द, राम, श्याम 'अकाल पुरुष' के नाम हैं, किसी अवतार के नहीं क्योंकि अवतारवाद का 'गुरु ग्रंथ साहब' में स्पष्ट रूप से खंडन किया गया है :

नानक निरभउ निरंकार होरि केते राव रवाल ।
(गु० ग्र०सा० आसा महला १—पृ० ४६४)

इसी प्रकार गुरु गोबिन्दसिंह ने भी ब्रह्म के लिए गोबिन्द, राम, श्याम, कृष्ण, अदेस, कामल, कमाल, रहीम, करीम आदि कितने ही ऐसे नामों का प्रयोग किया है । उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रावतार की अनेक कथाओं का भी निरूपण किया है । इन तथ्यों के आधार पर कुछ विद्वानों ने गुरु गोविन्दसिंह

---

1. वही, ११-२०, ११४ 2. वही, २६८, एवं अंत, 3. वही, २५४, २५५ ।

को अवतारवादी भावना का पोषक कहा है और कुछ ने उनके अवतार विरोधी विचारों को ध्यान में रखते हुए उसे 'अवतार प्राय:' भावना का नाम दिया है। यह मान कर कि, 'उनका अकाल पुरुख अवतार न होकर भी अवतार के जितने निकट है, उतना पूर्ववर्त्ती गुरुओं का अकाल पुरुष नहीं।' परन्तु हम समझते हैं कि ये दोनों ही धारणायें भ्रामक हैं। न तो गोबिन्दसिंह अवतारवादी भावना के पोषक थे और न ही 'अवतारप्राय:' भावना से कोई अर्थ निकलता है। अवतारवाद का तो दशमगुरु ने स्पष्ट रूप से खंडन किया है। उनके अनुसार ब्रह्मा, विश्वम्भर, चक्रधर, चक्रपाणि, गोविन्द, गोपाल, गोपीनाथ, हरि, माधव, वनवारी, मुरारि, नारायण, मुकंद, पद्मापति, श्रीपति, नीलकंठ, राम, कृष्ण आदि सभी प्रतीक हैं ऐसे देहधारी अवतार नहीं, जिन्हें अकाल-पुरुष के समकक्ष माना जाए। क्योंकि यदि वह नारायण (जल में घट वाला) है तो कच्छ मच्छ सभी नारायण हैं, गोपीनाथ है तो सभी ग्वाले गोपीनाथ हैं। माधव है तो सभी भँवरे माधव हैं—इत्यादि[1]। गुरु जी का कथन है कि ऐसा मानने वाले रूढ़ि को पीटते हैं, वे भेद को नहीं जानते।[2] उस ब्रह्म ने करोड़ों ही ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्ण उपाए और खपाए हैं। ये सब यहीं उत्पन्न होते हैं और यहीं मिट जाते हैं, ये सभी काल के अधीन हैं। इनमें से कोई भी ब्रह्म या उसके बराबर नहीं है।

एक सिव भए एक गए एक फेर भए, रामचन्द्र क्रिसन के अवतार भी अनेक हैं।
ब्रह्मा अरु बिसन केते बेद औ पुरान केते सिम्रिति समूहन के हुइ हुइ बितए हैं।
मौदनी मदार केते असुनी कुमार केते, अंसा अवितार केते काल बस भए हैं।
पीर औ पिकांबर केते गने न परत ऐसे, भूम ही ते हुई कै फेरि भूमि ही मिलए हैं
(अकाल उस्तुति ७७)

ये सभी कीड़ों के समान हैं, जिन्हें करोड़ों की संख्या में परमात्मा बनाता है और फिर नष्ट कर देता है।[3] वह ब्रह्म तो आदि, अद्वै, अविनाशी है।

---

1. वही, २४।
2. कितै क्रिसन से कीट कोटे उपाए। उसारे गडे फेरि मेटे बनाए।
   अगाधे अभै आदि अद्वै अविनासी। पार अपारा परम पूरन प्रकासी।
   (अकाल उस्तुति ९६)
3. चौवीस अवतार : ७

दशमग्रंथ में चौबीस अवतार कथाओं का निरूपण अवश्य किया गया है, परन्तु उनमें कहीं भी उन्होंने अपनी ओर से यह नहीं कहा कि वे इन अवतारों के ब्रह्मत्व में विश्वास रखते हैं। पुराणों में जैसी अवतारकथाएं वर्णित हैं, उन्हें, उसी रूप में चित्रित कर दिया गया है। इन्हें ग्रहण इसलिए किया गया है कि उन्हें इन कथाओं की दुष्ट दमनकारी प्रवृत्ति से अपने उद्देश्य की सफलता में बल मिलता था और उनके अनुयायियों को उत्साहित करने में भी वे सहायक हो सकती थीं[3] और हुईं। डा० धर्मपाल अष्टा के इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य है कि गुरु जी ने ये कथायें उन अनुयायियों के लिए लिखीं, जो नए नए उनके आश्रय में आये थे, और उनके धार्मिक विश्वासों और विचारों से पूरी तरह प्रभावित नहीं हुए थे वरन् उनकी वीरता और साहस से प्रभावित होकर अन्याय और अधर्म के विरुद्ध लड़ने के लिये उनके साथ हो गये थे।[1] मगर यह पूरा सत्य नहीं है। क्योंकि जो सिक्ख गुरु जी के विश्वास पात्र और सच्चे भक्त थे, उनमें उत्साह पैदा करने में भी ये अवतार-कथाएं, जो मुख्यतः युद्ध-कथायें हैं, काफी सीमा तक सहायक सिद्ध हुईं। वैसे भी वैष्णव मत और पौराणिकता का उस युग में सामान्य जनता पर इतना गहरा प्रभाव पड़ चुका था, कि उसे उतार फैंकना आसान नहीं था। गुरु जी ने उनके इन विश्वासों से लाभ उठाया और इन अवतार-कथाओं से उनके हृदय में धर्मयुद्ध के लिए अतुल चाव, उत्साह पैदा करने में वे सफल हुए।[2] परन्तु ऐसा करने से वे कदापि अवतारवादी सिद्ध नहीं होते। यदि जायसी, कुतबन, मंझन जैसे सूफ़ी कवि हिन्दू कहानियों के अपनाने से हिन्दू नहीं हो जाते, बल्कि सूफी ही रहते हैं, वरन् उनकी कथाओं के माध्यम से सूफी मत का प्रचार और प्रसार करने में अधिक सफल रहते हैं, तो गुरु गोविन्दसिंह अवतार-कथाओं का वर्णन करने मात्र से अवतारवादी भावना में विश्वास रखने वाले कैसे हो सकते हैं, जबकि इन अवतार-कथाओं में भी स्थान स्थान पर—आरम्भ अथवा अन्त में भी वे इन अवतारों के ब्रह्मत्व का खंडन करते रहे हैं।

'चौबीस अवतार' के आरम्भ में वे लिखते हैं कि ब्रह्म अजन्मा, अरूप, अलख है, फिर भी घट घट वासी है, वह सृष्टि का कर्त्ता, पालक और संहारक है,

---

1. The Poetry of the Dasham Granth P. 223.

2. दसम कथा भागौत की भाषा करि बनाई।
अवर वासना नाहिं प्रभु धरम जुद्ध की चाई। कृष्णावतार : २४९१

मगर ये जो चौबीस अवतार कहे गये हैं, वे यूं ही भटकते रहते हैं, उस बेअंत को नहीं पा सकते । देखिये—

जो चउबीस अवतार कहाए । तिन भी तुम प्रभ तनक न पाए ।
सभ ही जग भरमे भरमायं । ताते नामु बिअंत कहायं ।
(चौ० अवतार—आरम्भ : ७)

'कृष्णावतार' में भी वे लिखते हैं कि मैं इन में से किसी अवतार के बारे में नहीं जानता । मैंने उनके सम्वन्ध में सुना ज़रूर है, मगर मैं उन्हें ब्रह्म नहीं मानता । इसीलिये उन्हें गणेश, , कृष्ण, विष्णु के ध्यान से कोई वासता नहीं ।[1] उन्होंने अन्य अवतार-कथाओं के अन्तर्गत भी ऐसे विचार प्रकट किये हैं[2] । कुछ उदाहरण देखिये—

काल पुरख की देहि मो कोटिक बिसन महेस । (शेष शैय्या अवतार : ११।)
भूमभार हर सुरपुर जाई । काल पुरख मो रहत समाई । (ब्रह्म :४)
जब जब होत अरिसटि अपारा । तब तब देह धरत अवतारा ।
काल सबन को पेख तमासा । अंतह् काल करत है नासा ।
(चौ० अ० आरम्भ : २)

'रामावतार' में भी उन्होंने कहा है—

पाइ गहे जब ते तुमरे तब ते कोऊ आंख तरे नहीं आन्यो ।
राम रहीम पुरान कुरान अनेक कहे मत एक न मान्यो । ८६३ ।

ये सभी अकाल पुरुष की आज्ञा से यहां आए हैं[3], स्वयं अकाल पुरुष कैसे हो सकते हैं । समय-समय पर जब पृथ्वी पर अनाचार बढ़ता है तो संतों की पुकार पर परमात्मा ने अरिष्ट, अन्याय, अधर्म एवं अत्याचार के विनाश के लिए और

---

1. कृष्णावतार : ४३४ : मैं न गनेसहि प्रथम मनाऊं, किसन बिसन काइ नहिं धिआऊं । (वही)

2. पारस० ४, जालन्धर : २०-२१, रुद्र० ४, अरहंत : ७-८, मनु० २-३ धनंतर० ३, सूर्य : ३, चन्द्र, ७-८, राम० ३, कृष्ण : २-३, आदि ।

3. दीयों आइसं काल पुरखं अपारं । धरो बावना बिसन असटमावतारं ।
लई बिसन आगिआ चलयो धाई ऐसे । लइयों दारदी भूप भंडार जैसे ।
(बावन : १३)

धर्म की स्थापना के लिए अनेक पीरों, पैगम्बरों, नबियों, देवों-अवतारों को भेजा, परन्तु वे यहां आकर परमात्मा को भूल गये और स्वयं को ही परमात्मा कहकर पुजवाने लगे, तव परमात्मा ने उन्हें भी नष्ट कर दिया। गुरु जी ने 'विचित्र नाटक' में ऐसे पथभ्रष्ट अवतारों की घोर भर्त्सना की है[1] और स्वयं को परमात्मा का दास कहा है और घोषणा की है कि उन्हें भी अकाल-पुरुष ने इसी उद्देश्य से भेजा है—दुष्टदमन हेतु, परन्तु जो कोई उन्हें अवतार कहेगा वह नरक में गिरेगा[2]। उन्होंने अपने को 'कीट' कहा है और युद्ध में अपनी विजय को भी परमात्मा की कृपा माना है।

अतः स्पष्ट है कि गुरु गोबिन्दसिंह ने पुराणों की अवतार-कथाओं को अवश्य ग्रहण किया, परन्तु अवतारवाद में उन्हें विश्वास नहीं। उन्होंने इन अवतार-कथाओं को इस रूप में ढाला है कि उनसे अवतारों के प्रति भक्ति उत्पन्न नहीं होती, जैसा कि पुराणों का उद्देश्य है, वरन् धर्मयुद्ध के लिए उत्साह और प्रेरणा मिलती है। उन्होंने ये लिखे ही[3] इस उद्देश्य से थे और इनमें युद्ध-प्रसंगों को ही अधिक विस्तार दिया गया है। वस्तुतः, उन्होंने पौराणिक शैली को अवश्य अपनाया, पुराणों की अवतारी भावना को ग्रहण नहीं किया।

गुरु गोबिन्दसिंह को वैष्णवों की भांति ब्रह्म की कृपालुता, दयालुता में आस्था है और उसकी भक्त-वत्सलता, दीन-वन्धुता आदि का वर्णन उन्होंने पूरी निष्ठा और श्रद्धा से किया है। यथा—

> दीनन की प्रतिपाल करै नित संत उवार गनीमन गारे।
> पच्छ पसु नग नाग नराधप सरब समै सभ को प्रतिपारे।
> पोखत है जल मै थल मै पल मै कल के नहि करम विचारे।
> दीन दइआल दइआनिधि दोखन देखत है पर देत न हारै।
>
> (अकाल उस्तुति : २४३)

परमात्मा सभी की पालना करता है, पेट तक में खाने को देता है। जिस पर उसकी रक्षा का हाथ होता है, उसका कोई वार भी वांका नहीं कर सकता, शत्रु के अनेक वार भी उसका कुछ विगाड़ नहीं सकते[4]। इसलिए वे कहते हैं कि व्यर्थ

---

1. विचित्र नाटक अध्याय ६ : २—६४।
2. विचित्र नाटक। ६ : ३२।
3. कृष्णावतार : २४९१।
4. अकाल उस्तुति : २४८

की कल्पना जल्पना वेकार है। उसी पद्मापति का स्मरण करना चाहिए, जो सबकी सुध लेता है :

काहे को डोलत है तुमरी सुध सुन्दर पदमापति लै है। अ० उ० २४७।

जो उसका स्मरण करते हैं, वे पूर्ण प्रताप को प्राप्त करते हैं, सब प्रकार के सुख एवं वैभव को पा लेते हैं—

जिनै तुहि धिआइऔ तिनै पूरन प्रताप पाइयौ।
सरब धन धाम फल फूल सौं फलत हैं। अ० उ० २५५।

वह दीनदयाल, कुंजर से भी पहले चींटी की पुकार सुनता है—

हाथी की पुकार पल पाछै पहुंचत ताहि।
चींटी कौ चिंघार पहिले ही सुनीअतु है।२५६।

यह थी उनकी आस्था और विश्वास।

आत्मा, जीव, आवागमन और मुक्ति :

'आदि-ग्रंथ' में आत्मा को 'भगवद्गीता' की भांति सत्त चित्त आनन्द स्वरूप एवं अद्वैतवादियों की भांति आत्मा और परमात्मा को अभिन्न माना गया है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए वहां जल-तरंग तथा कनक-कुंडल आदि की उपमा दी गई है। यथा—

जल ते उठहि अनिक तरंगा। कनिक भूखन कीनै वहु रंगा।

गुरु गोबिन्दसिंह भी आत्मा को परमात्मा का ही रूप मानते हैं। उन्होंने भी इनके सम्बन्ध को नदी-तरंग, अग्नि-स्फुलिंग, धूलि-कन आदि के माध्यम से प्रतिपादित किया है, यथा—

जैसे एक आग ते कनूका कोट आग उठे,
निआरे निआरे हुई कै फेरि आग में मिलिहिंगे।
जैसे एक धूर ते अनेक धूर पूरत है,
धूर के कनूका फेर धूर ही समाहिंगे।
जैसे एक नद ते तरंग कोट उपजत हैं
पान के तरंग सबै पान ही कहाहिंगे।
तैसे विस्वरूप ते अभूत भूत प्रगट हुई
ताहि ते उपज सबै ताहि मैं समाहिंगे। (अ० उस्तुति : ८७)

उसी का सारा प्रकाश है । यह प्रकाश उसी में से निकलता है, उसी में समा जाता है । जैसे एक अग्नि से करोड़ों अग्नि-स्फुलिंग उत्पन्न हो कर अलग-अलग दीख पड़ते हैं, परन्तु उसी में मिल कर एक रूप हो जाते हैं, जैसे एक नद से करोड़ों तरंगें उत्पन्न होती हैं, मगर जल ही कहलाती हैं, उसी प्रकार एक ब्रह्म से अनेक जीव प्रकट होते हैं, और उसी में समा जाते हैं । सभी उसी ब्रह्म के अंश हैं, इसी लिए गुरु जी ने प्राणी मात्र की एकता और अभिन्नता में विश्वास प्रकट किया है । उनका कहना है कि सभी मनुष्यों के एक ही से कान, नाक, आंख, शरीर हैं, सभी एक से तत्वों से वने हैं, फिर भेद-भाव कैसा । सभी मानव एक हैं —भेद भ्रम है[1] । हिन्दू, तुर्क, गन्धर्व, यक्ष सभी देशों के प्राणी एक ही हैं । वे केवल वाह्य वेश-भूषा से भिन्न प्रतीत होते हैं[2] । एक ही वह बनावट है, उसी का यह सारा प्रसार है । एक का ही स्वरूप सव में व्याप्त है[3] ।

इसी आधार को ग्रहण करते हुए गुरु गोविन्दसिंह ने जाति-पांति, वर्ग-भेद आदि के भेदभाव को भ्रमजाल वताते हुए उसका खंडन किया है और हिन्दू-मुसलमान, योगी, संन्यासी, क्षत्रिय-व्राह्मण, राव-रंक सभी को ब्रह्म का रूप मानते हुए मानववादी भावना में विश्वास प्रकट किया है । यथा—

कहूं होइ कै हिन्दुआ गायत्री को गुपत जपिओ ।
कहूं होई कै तुरका पुकारे वांग देत हो ।१२।
कहूं धरमधारी कहूं सरव ठौर गामी ।
कहूं जती कहूं कामी कहूं देत कहूं लेत है ।१४।
कहूं जटाधारी कहूं कंठी धरे ब्रह्मचारी ।
कहूं जोगसाधी कहूं साधना करत है ।१५।।

जब ब्रह्म की कोई जाति-पांति, रूप-रंग, वर्ग नहीं है तो उसी के अंश रूप जीव में इस प्रकार की विभेदता को मानना भ्रम ही है । पूर्व गुरुओं ने इसी मानववाद का प्रतिपादन किया है और गुरु गोबिन्दसिंह ने भी उन्हीं का अनुकरण किया है । उनका विश्वास है कि विना किसी जाति-पांति एवं भेद-भाव के सच्चे हृदय से भक्ति करने पर सभी उसे प्राप्त कर सकते हैं ।

दशमगुरु ने पुनर्जन्म और आवागमन में भी विश्वास प्रकट किया है । 'विचित्र नाटक' में उन्होंने अपने पूर्व जन्म की कथा का वर्णन किया ही है ।

---

1. अकाल उस्तुति : ८६, 2. वही, 3. वही-८५

'अकाल उस्तुति' में उन्होंने अनेक बार इस बात का उल्लेख किया है कि जीव जब तक भक्ति द्वारा मुक्ति प्राप्त नहीं कर लेता, वह काल के फंदे में फंसा रहता है। 'सांसारिक जीव' विषय-वासनाओं में लिप्त रहते हैं और अनेक प्रकार के बाह्याचार, जप, तप करने पर भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाते। मुक्ति का तो एक ही साधन है—'नाम-स्मरण'। उनका कथन है कि यदि तुम ब्रह्म को पाना चाहते हो, तो उसमें लीन हो जाओ[1]। मानव, इन्द्र, राजा, कुबेर, बेहद दान-स्नान करने वाले भी यम के फंदे में फंसे रहेंगे। परन्तु 'श्रीपति' के चरण स्पर्श से वे फिर देह धारण नहीं करेंगे। उसके आश्रय में गये बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती[2]।

सृष्टि रचना :

सृष्टि रचना के सम्बन्ध में भी गुरुओं के विचार वेदान्त के ही अनुरूप हैं। गुरुमत अनुसार वह ब्रह्म स्वयं ही इस सृष्टि का कर्त्ता और कारण है। यथा—

करण कारण प्रभु एक है, दूसर नाहीं कोइ।

(आदि ग्रंथ, गउड़ी सुखमनी महला ५ पृ० २७६)

आ कारण करता करे स्रिसटि देखे आपि उपाई।

(वही, सिरी राग, महला ३।१।२०।६५०।३०)

'अकाल उस्तुति' में गुरु गोबिन्दसिंह ने भी ब्रह्म को ही सृष्टि का कर्त्ता और संहरता कहा है। सारी सृष्टि उसी से उत्पन्न हो कर उसी में समा जाती है। जल-थल, आकाश-पाताल, कीट-कुंजर सभी में वही व्याप्त है। सृष्टि के कण-कण में वही समाया है। उसी विश्वरूप से ये सब अभूत भूत प्रकट होते हैं और उसी में समा जाते हैं। उसी के सब बनाए हुए हैं, और वही इन्हें नष्ट करता है। चौदहों भवनों में उसी ने अपना खेल रचा है और फिर वह अपने में ही उसे समेट लेता है। यथा —

तैसे विस्वरूप ते अभूत भूत प्रगट होई।
ताही ते उपज सबै ताही में समाहिंगे।१७।८७।
तेज जिउ अतेज मैं अतेज जैसे तेज लीन।
ताही ते उपज सबै तांहि मैं समाहिंगे।८८।

---

1. अकाल उस्तुति—२५५, 2. वही—२८

गुरुमत में सृष्टि की रचना ब्रह्म (अकाल पुरुष) के हुकम से मानी गई है, उसमें ईश्वर, माया या किसी अन्य शक्ति का कोई हाथ नहीं होता ।

माया :

संतों ने अद्वैतवादियों की भांति आत्मा और परमात्मा के मिलन में माया को ही मुख्य बाधा माना है । माया के ही कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर सांसारिक भोग-विलास में डूबा रहता है । माया को उन्होंने नटनी कहा है, जो सारे संसार को भ्रम में डाले हुए है और माया के मुख्य साधन कंचन-कामिनी के त्यागने का आग्रह किया है । गुरु गोविन्दसिंह ने विस्तार से तो माया के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला, यद्यपि सांसारिक सुख, धन, वैभव आदि की नश्वरता का प्रतिपादन करते हुए उनके मोह में न फंसने का प्रतिपादन उन्होंने भी किया है । 'अकाल उस्तुति' में उन्होंने यह भी कहा है कि ब्रह्म स्वयं माया रहित निरंजन है और वही मायापति है । माया उसके चरणों की दासी है ।

साधना पद्धति :

भारतीय धर्म साधना का विकास मुख्यत: ज्ञान-प्रधान, कर्म-प्रधान तथा भाव-प्रधान इन तीन पद्धतियों पर हुआ । वैदिक युग की साधना कर्म-प्रधान थी, उपनिषदों में ज्ञान को महत्त्व दिया गया, बौद्धों ने भी वैदिक कर्म-कांड और रीतियों का खंडन करके सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादन किया । आगे चलकर भावना-प्रधान उपासना पद्धति का अधिक प्रचार हुआ । विशेष रूप से पौराणिक युग की अवतारवादी भावना से बल पाकर उसे अधिक प्रश्रय मिला । सातवीं-आठवीं शती में बौद्ध-सिद्धों की अनेक गुह्य साधनाओं का प्रचलन हुआ और नाथों ने योग साधना को अधिक महत्त्व दिया । वस्तुत:, भारत का मध्यकालीन इतिहास सिद्धों, नाथों, शैवों, शाक्तों, वैष्णवों, वेदान्तियों, ज्ञान मार्गियों, कर्म-कांडियों, मूर्तिपूजकों आदि के संघर्ष का युग था और उनमें से अधिकांश में—प्राय: सभी में बाह्याचारों का जोर था और धर्म ने पाखंडों, आडम्बरों का रूप धारण कर लिया था । संतों ने इन सभी प्रकार के मिथ्याचारों और विकृत पद्धतियों का खंडन किया और सरल भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया, जिसके लिए उन्होंने ब्रह्मज्ञान, शुद्ध आचरण, शुभ-कर्म के महत्व को भी स्वीकार किया । सिक्खमत के प्रवर्त्तक गुरु नानक ने भी भक्ति को ही अधिक महत्त्व दिया और ब्रह्म ज्ञान अथवा शुद्ध कर्मों को उसके अंग रूप में स्वीकार किया । गुरु गोविन्दसिंह

उसी परम्परा के साधक और संत हैं। संतों तथा अन्य गुरुओं की भांति उन्होंने भी ज्ञान, कर्म, योग आदि के महत्त्व को स्वीकार तो किया है, परन्तु उन्हें भक्ति की धारा से सिंचित करते हुए मुख्य भक्ति को ही माना है। जहां ज्ञान-मार्गियों के लिए ब्रह्म, जीव, जगत, माया आदि के स्वरूप और सम्बन्ध का चिंतन ही ध्येय है, वहां भक्ति मार्गियों के लिए यह चिंतन उनकी भक्ति को दृढ़ करने का साधन मात्र है।

ज्ञान के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए गुरु गोबिन्दसिंह कहते हैं कि जो लोग कामना (विषय-वासना) के अधीन हो कर नाच रहे हैं, वे ब्रह्म ज्ञान के बिना ब्रह्म लोक को कैसे प्राप्त कर सकते हैं[1]। कोई आकाश में उड़ते हैं, तो कोई जल में रहते हैं, मगर ब्रह्म ज्ञान के बिना वे धधकती ज्वाला में जलकर ही मर जाते हैं[2]। ज्ञान के बिना काल फांस में फंसे जन्म मरण की चक्की में पिसते रहते हैं[3]। जो लोग काम के वशीभूत हैं वे ज्ञान बिना भवसागर को कैसे पार कर सकते हैं[4]।

इस प्रकार के आतम चिंतन से जीव अपने वास्तविक स्वरूप का बोध प्राप्त करता है और विषय-वासनाओं को त्यागकर भगवत्-भक्ति में लीन हो कर उसे प्राप्त करने में सफल होता है। क्योंकि भावना विहीन होकर उस जगदीश को प्राप्त नहीं किया जा सकता[5]।

गुरुओं ने अपनी साधना में 'नाम स्मरण' को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उनके अनुसार नाम से ही इस सृष्टि की रचना हुई है और नाम में ही सब समा जाते हैं[6]। उनके अनुसार नाम ही जप, तप, संयम का सार है। लाखों

---

1. कामना अधीन परीओ नाचत है नाचन सो।
   गिआन के विहीन कैसे ब्रह्म लोक पावई। अ० उस्तुति : ८२।
2. गैन मै उडत केते जल में रहत केते।
   गिआन के विहीन जक जरेइ मरत है। वही, ८६।
3. गिआन के बिहीन काल फांस के अधीन सदा।
   जुगन की चउकरी फिराए ई फिरत है। ७६।
4. अंगना अधीन काम क्रोध में प्रवीन एक,
   गिआन के बहीन छीन कैसे के तरत है। ७१।
5. भावना बिहीन कैसे पावे जगदीस को।७६।
6. जपजी पौडी-१६, गउडी पूर्वी महला ३ पृ० १४

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 76610
Date 18-7-91

करोड़ों कर्म और तपस्याएं भी नाम के सदृश नहीं हैं। नाम के बिना सारे कर्म, तप, जप व्यर्थ हैं :

हरि नामे तुलि न पूजइ जे लख कोटी करम कमाइ।
(गु० ग्रंथ साहब, मारू सोलहे महला : २ : १४ पृ० १०३)

गुरु गोविन्दसिंह ने भी 'नाम' की महिमा का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि 'नाम स्मरण' से पुण्यों का प्रचंड तेज बढ़ता है और पापों का झुण्ड जल जाता है[1]—परमात्मा के प्रेम के बिना वह कदापि प्राप्त नहीं हो सकता[2]। सभी धर्मों-कर्मों को त्याग कर 'नाम जाप' करना चाहिए, जिस से भवसागर को पार किया जा सकता है और फिर देह धारण नहीं करनी पड़ती :

जिह फौकट धरम सबै तजि है। एक चित क्रिपानिधि को जप है।
तेउ या भवसागर को तर है। भव भूल न देह पुनह धर है।१५६।

मध्ययुग में विभिन्न सम्प्रदायों में थोथे ज्ञान, पाखंडपूर्ण योगिक क्रियाएं तथा मिथ्याडम्बर युक्त कर्मों का प्रचार हो रहा था और सामान्य जनता धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूल कर इन पाखंडों और आडम्बरों में फंसी हुई थी। कबीर तथा नानक ने इन पाखंडों का कड़ा विरोध किया था, मगर गुरु गोविन्दसिंह के साहित्य का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि उस समय भी इस प्रकार के बाह्यकर्मों एवं अंधविश्वासों का बाहुल्य था, तभी तो उन्हें इनका खंडन करने की आवश्यकता पड़ी। उनका कथन है कि कर्म-कांडी, सिद्ध, योगी, संन्यासी, वेदपाठी, शैव, जन्त्र-मन्त्रों की सिद्धि में फंसे हुए, महायानी, मंत्रयानी, नाथ, उदासी, तुर्क, ब्राह्मण, यती, पुराण अथवा कुरानपाठी, चंद्रमा, सूर्य अथवा अग्निपूजक, फल-फूल भक्षी, पवनाहारी, जपी, तपी, तीर्थ-व्रत करने वाले सभी ऐसे साधक हैं, जो मिथ्याचारों, बाह्याडम्बरों, पाखंडपूर्ण कर्मों में फंसे हुए हैं, ये सभी अपना पेट भरने और लोगों को धोखा देने के धंधे हैं[3] अन्यथा इनमें से कोई भी उस वाहिगुरु को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि इनमें से कोई भी वाहिगुरु के प्रति प्रेम से युक्त नहीं है। उस करतार

---

1. अकाल उस्तुति : २७
2. वही : २४५।
3. चौ० अ० ४२५।

के प्रति श्रद्धा और प्रीति के बिना सभी एक रत्ती के समान हैं।[1] । ये सभी अभिनेता और पाखंडी हैं ।[2]

इन पाखंडियों और ढोंगियों पर तीखे व्यंग्य कसते हुए वे लिखते हैं कि बगुलों की भांति आंखें मूंद कर ध्यान लगाने से अथवा वन में रहने से कोई लाभ नहीं। पशुओं अथवा विषयी-लोगों में बैठकर ऐसे ही जन्म गंवा दिया। प्रभु को तो वही पाता है जो उसे प्रेम करता है[3] । सजदे करने, मूर्ति पूजने, कंठी पहनने, समाधि लगाने, कब्र पूजने आदि का विरोध करते हुए वे कहते हैं कि कोई पत्थर सिर पर रख रहा है, किसी ने शिवलिंग गले में लटका रखा है, कोई हरि को पूर्व दिशा में देखता है, कोई पश्चिम में सीस निवाता है, कोई बुतों को पूजता है, तो कोई कब्रों को पूजने के लिए भागता है। परन्तु ये सभी क्रूर क्रियाओं में उलझे हुए हैं, ये निरंकार का भेद नहीं पा सकते ।[4]

जप, तप, व्रत, तीर्थ, यज्ञ, योग, वेद, पुराण, कुरान पाठ आदि का खंडन करते हुए वे कहते हैं—

"कई सदा भुजाएं ऊपर उठाए खड़े रहते हैं, कई उल्टे होकर अग्नि में लटकते हैं, कई वेद शास्त्र, श्रुति स्मृति, कोक कुरान पुराण पढ़ते हैं, कई तीर्थ, व्रत, होम, यज्ञ, दान-स्नान करते हैं, कई शाक, पुष्प-पत्र खाकर रहते हैं तो कई पौनाहारी हैं, कई देशाटन करते हैं, और अनेक भाषाएं रटते हैं, मगर इन में से कोई भी उसका (ब्रह्म का) पार

---

1. अकाल उस्तुति २१, २५२।
2. वही, ८२।
3. वही, २९।
4. काहू लै पाहन पूज धरियो सिर काहू लै लिंगु गरे लटकाइओ।
काहू लखिओ हरि अवाची दिसा महि काहू पछाह को सीस निवाइओ ।।
कोउ बुतान को पूजत है पसु कोऊ म्रितान को पूजन धाइओ।
कूर क्रिया उरझिओ सभ ही जगु स्री भगवान को भेद न पाइओ।
(वही, ३०)

नहीं पा सकते, वह प्रत्यक्ष नहीं होता[1]। नेवली, अश्व-मेध, ब्रह्म विद्या, धूप-दीप-अर्घदान, पितृ कर्म, जलनिवास, अग्निताप, उल्टे लटक कर जाप करने अथवा अन्य करोड़ों यत्न करने पर भी उस का अंत नहीं पा सकते। उसके दर्शन नहीं होते[2]। शेख अल्लाह अल्लाह चिल्लाते हैं[3] और मुल्ला पांच वार बांग देता है, मगर सब बेकार। बांग देने से यदि वह मिले तो गदहा और कुंजर कितनी ही बार पुकारता है, उन्हें क्यों नहीं मिल जाता—

पांच वार गीदर पुकार परे सीत काल
कुंजर औ गदहा अनेकदा पुकारही।८३।।"

इन पाखंडियों पर अपने क्षोभ को और तीखा करते हुए वे कहते हैं कि यदि दुखों के सहने से ही वह मिलता है, तो जख्मी व्यक्ति अनेक कष्ट सहन करता है, यदि जाप करने से ही न जपने योग्य स्वामी मिल सके तो पूतना (पक्षी) सदा ही "तुही, तुही" करती है। आकाश में उड़ने से यदि नारायण मिले तो अनल पक्षी सदा ही आकाश में फिरता है, आग में जलने से यदि मुक्ति प्राप्त हो तो पति के साथ जलने वाली विधवा को मुक्ति मिलनी चाहिए, पाताल में रहने से परमात्मा मिले तो सांप पाताल में ही रहता है। मगर जिस प्रकार जख्मी, पूतना, अनल, सर्प आदि को परमात्मा नहीं मिल सकता, इसी प्रकार प्रेम के बिना ऐसी साधना करने वाले पाखंडियों को भी परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते[1]। इसी प्रकार गंदगी खाने से, भस्म रमाने से, श्मशान में रहने से, उदासी होकर फिरने से, मौन धारण करने से, वीर्य

---

1. वही-१२१—१३६, 2. वही-१४०, 3. वही-४१-५०।

4. ताप के सहे ते जो पै पाइये अतापनाथ।
तापना अनेक तन घाइल सहत है।
जाप के किये ते जो पै पायत अजाप देव,
पूतना सदीव तुही तुही उचरत है।
नभ के उड़े ते जो पै नारायण पाइत।
अनल अकास पंछी डोलबो करत है।
आग में जरे ते गति रांड की परत कर।
पताल के बासी किउं भुजंग न तरत है।अकाल०८४।

रोकने से, नंगे पांव घूमने से भी परमात्मा नहीं मिलता, क्योंकि सुअर हमेशा गंदगी खाता फिरता है, हाथी और गदहा भस्म लगाते रहते हैं, बिज्जू सदा श्मशान में ही रहता है, मृग उदासियों की भांति वन में घूमते रहते हैं, वृक्ष सदा मौन धारण किये खड़े रहते हैं, हिजड़े वीर्य को रोके रखते हैं, वानरों के झुंड सदा नंगे पांव घूमते रहते हैं, मगर इनमें से किसी को भी परमात्मा नहीं मिल सकता। जो लोग ज्ञान से हीन, स्त्री के अधीन और काम के वशीभूत हैं, वे भला मुक्ति कैसे प्राप्त कर सकते हैं—

> खूक मलहारी गज गदहा विभूत धारी, गिदूया मसान बास करिओई करत हैं।
>
> घुघू मट बासी लगे डोलत उदासी, म्रिग तरवर सदीव मौन साध ई मरत हैं।
>
> बिंद के सधय्या ताहि हीज की बडय्या देत, बंदरा सदीव पाइ नागे ई फिरत हैं।
>
> अंगना अधीन काम क्रोध मैं प्रवीन एक, गिआन के बिहीन छीन कैसे कै तरत हैं। अ० ७१।

भूत वनचारी हैं, बच्चे दुग्धधारी होते हैं, सर्प पवनाहारी हैं, घासफूस खाने वालों को बैल कहा जाता है, आकाश में पक्षी उड़ते हैं, बगुला और बिल्ला आंखें मीच कर बैठते हैं। इनमें से कोई भी सच्चा साधक नहीं है। गुरु गोविन्दसिंह ने इन मिथ्याचारों का खंडन इस प्रकार किया है—

> भूत वनचारी छित छउना सबै दुधाधारी,
> पउन के अहारी सु भुजंग जानिअतु है।
> त्रिण के भछय्या धन लोभ के तजय्या,
> तेतो गऊअन के जय्या ब्रिखभय्या मानीअतु है।
>
> नभ के उडय्या ताहि पंछी की बडय्या देत,
> बगुला विडाल ब्रिक धिआनी ठानीअतु है।
> जेते बडे गिआनी तिनी जानी पै बखानी नाहि,
> ऐसे न प्रपंच मन भूल आनीअतु है। ७२।

गुरु गोबिन्दसिंह का कहना है कि ऐसे कितने ही बड़े बड़े ज्ञानी हुए जो इन बाह्याचारों के मिथ्यात्व और निरर्थकता को जानते तो थे, मगर

इनके विरोध में किसी ने कहा कुछ भी नहीं । परन्तु वे ऊंचे स्वर में पुकार पुकार कर कहते हैं, कि ऐसे प्रपंचों में मन को भूल कर भी फंसाना नहीं चाहिए। क्योंकि जो फलों को खाकर जीते हैं, उन्हें वानर ही कहना चाहिए, जो छिप कर फिरने को बड़ी भारी साधना समझते हैं, उन्हें भूत समझना चाहिए, जो पानी पर तरने में ही वड़ाई समझते हैं, उन्हें जल जुलाहा कहना चाहिए, और आग को खाने वाले को चकोर कहना चाहिए। आक और फल-फूल को खाने वाला वकरे जैसा और कोई नहीं है, भेड़ सदा अपने सिर को वृक्षों से रगड़ती फिरती है और जोंक सदा ही मिट्टी खाकर जीती है[1]। भला इस प्रकार की व्यर्थ की साधनाओं से कभी उस अनंत ब्रह्म को पाया जा सकता है। ये सब तो स्वांग है, पेट भरने के साधन हैं, लोगों को धोखे में डालने के प्रपंच हैं, सभी फोकट धर्म है, इन में भूल कर भी फंसना नहीं चाहिए। मूर्ख लोग ही ऐसी रूढ़ियों को पीटते हैं। इन सभी वाह्य-कर्मों को त्याग कर उस परमात्मा को भजना चाहिए जो सवका रक्षक है, सभी की पालना करता है। ज्ञान के विना जीव काल चक्र में फंसा रहता है और भक्ति के विना जगदीश को प्राप्त नहीं किया जा सकता। भक्ति के विना सभी कर्म, यज्ञ, होम, योग, पुराण, कुरान, वेद, कतेव, तीर्थ, व्रत वेकार हैं—

मूड रूड पीटत न गूडता को भेद पावें,
पूजत न ताहि जाके राखे रहीअतु है।७५।

---

1. फल के भछय्या ताहिं वांदरी के जय्या कहै,
आदिस फिरय्या तेतो भूत कै पछानीए।
जल के तरय्या को गंगेरी ही कहत जग,
आग के भछय्या सो चकोर सम मानीए।७३।
सीस पटकत जाके कान मै खजूरा धसै,
मूंड छटकत म्रितु पुत्र हू के सोक सौ।
आक को चरय्या फल फूल को भछय्या सदा,
वन का भ्रमय्या अउर दूसरो न वोक सौ।
कहा भयो भेड जौ घसत सीस ब्रिछन सौ,
माटी को भछय्या वोल पूछ लीजै जोंक सौ।
कामना अधीन काम क्रोध मै प्रवीन एक,
भावना विहीन कैसे भैंटे परलोक सौ।८०।

गिआन के बिहीन काल फास के अधीन सदा,
जुग्गन की चउकरी फिराए ई फिरत है ।७६।
कामना अधीन परिओ नाचत है नाचन सो,
गिआन के विहीन कैसे ब्रह्मलोक पावई ।८२।
कामना अधीन सदा दामनी प्रवीन एक,
भावना विहीन कैसे पावै जगदीस कौ ।७६।

इस विवेचन से स्पप्ट है कि दशमगुरु ने वाह्यकर्मों, मिथ्याचारों, पाखंडपूर्ण योग, जप, तप आदि का कड़ा विरोध किया है, और इन पर बड़े ही तीखे और कटु व्यंग्य किये हैं[1] । एक विद्वान् का कथन है कि गुरु गोविन्दसिंह ने संतों की भांति इन बाह्याचारों और पाखंडपूर्ण साधनाओं का विरोध तो किया मगर वह वहुत संयत था और खंडन की प्रवृत्ति पर अंकुश रखा गया है । उनमें कबीर जितना तीखापन नहीं है । परन्तु जो उदाहरण ऊपर दिए हैं तथा और भी ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, उनको देखकर कौन यह मान सकता है कि पाखंडों, आडम्बरों एवं ढोंगों के विरुद्ध उनकी वाणी कबीर से कम प्रखर, कम तीखी और कम कटु थी ? कबीर ने जिस प्रकार कहा है कि बार-बार के मूंडने से भेड़, और जल में रहने से मछली नहीं तरती, उसी प्रकार गुरु जी ने ऐसे पाखंडी साधकों को गदहे, सुअर, बंदर, बकरे, विल्ले, बगुले, बिज्जू, भूत, मोर, वृक्ष, पक्षी, जल-जुलाहे, पूतना, जोंक आदि के समान कह कर उन्हें बुरी तरह से फटकारा है । उन्होंने देहरी मसीत को पूजने वाले, राम और रहीम पर झगड़ने वाले, पुराण और कुरान की कथाओं में उलझे हुए, उल्टे लटक कर या भूखे रह कर तप करने वाले और बांग देकर खुदा को पुकारने वाले बहुरूपियों और ढोंगियों की भर्त्सना करने में कोई कसर नहीं छोड़ी । उन पर बड़ी ही तीखी और चुभती चोटें की हैं । धर्म साधना के परिप्कार, उन्नयन और सुधार का यह अत्यन्त मंगलकारी अभियान था । हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की आज भी यह विडम्बना है कि जो लोग ऐसी वुराइयों, अन्ध-विश्वासों, रूढ़ियों, चारित्रिक हीनताओं आदि के विरुद्ध बढ़ चढ़कर 'सरमन' देते फिरते हैं, वे स्वयं वहुधा उनके शिकार हैं । गुरु गोविन्दसिंह के जीवन से हम आज भी यह शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं कि उन्होंने जो उपदेश दिये, स्वयं उन पर आचरण भी किया । वे साधक पहले थे, उपदेशक बाद में ।

---

१. गुरुमुखी लिपि में हिन्दी काव्य—पृ० ७६, डा० हरिभजनसिंह ।

जगत, ऐश्वर्य, अहंकार आदि :

अद्वैतवादियों की ही भांति सिक्ख गुरुओं ने जगत् को मिथ्या, अस्थिर, क्षण भंगुर एवं नश्वर कहा है। उनके अनुसार यह बुदबुदे, मृग-तृष्णा, धुंए के धवलहर की भांति असत्य और भ्रमपूर्ण हैं।[1] जगत असत्य है, तो इसके सभी सम्बन्ध और आकर्षण भी नाशवान और असत्य हैं। सांसारिक जीव जगत के वैभव, श्री और ऐश्वर्य आदि आकर्षणों और प्रलोभनों से मोहित होकर विषय वासना में इतना लीन हो जाता है कि अपने वास्तविक स्वरूप को सर्वथा भूल जाता है। परमात्मा का वह दत्तचित होकर कभी भी स्मरण नहीं कर सकता।

सांसारिक सुख और वैभव अहंकार को जन्म देते हैं और अहंकारी मनुष्य कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। यह अहंकार (हउमै) मनुष्य को विनाश की ओर ले जाता है। गुरु गोविन्दसिंह ने भी कहा है कि 'देव और दैत्य इसी अहंकार के कारण विनष्ट हुए'[2]। यह अहंकार शरीर की सुन्दरता, धन, वैभव एवं ऐश्वर्य की वृद्धि, बल, विक्रम, विद्या, जाति एवं परिवार आदि की बड़ाई के कारण हो सकता है। गुरुमत में ऐसे पांच प्रकार के हउमै का निरूपण किया गया है। यही 'हउमै' मनुष्य को परमात्मा से विरत करने वाले मुख्य कारण हैं। गुरुओं के अनुसार नाम-जाप, गुरु-कृपा, साधु-संगति आदि के द्वारा 'हउमै' का विनाश किया जा सकता है[3]। 'हउमै' के विनाश से ही भक्ति और मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

गुरु गोबिन्दसिंह ने भी सांसारिक धन, वैभव, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, विक्रम आदि से उत्पन्न अहंकार को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु कहा है[4]। इसीलिए उन्होंने इन पदार्थों की नश्वरता, असत्यता, क्षण-भंगुरता आदि का प्रतिपादन करते हुए मनुष्य को उनके आकर्षणों के जाल से बचे रहने को सावधान किया है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि अनेक मस्त हाथियों, पवन से भी तीव्र-गामी अश्वों और अनेक बलशाली राजाओं के भी स्वामी हुए तो क्या, अन्त में

---

1. गुरुग्रंथ दर्शन, पृ० ११३, जयराम मिश्र।
2. अकाल उस्तुति २४५—११७।
3. गुरुग्रंथ दर्शन, पृ० १२०-१४२, डा० जयराम मिश्र।
4. अकाल उस्तुति, २४५।

सभी को नंगे पांव जाना पड़ता है[1] । जो देश देशान्तर को जीतते फिरे, जिनके यहां नित्य ढोल, मृदंग, पखावज और धौंसे बजते रहे, जिनके द्वार पर सहस्रों हाथी, घोड़े झूलते रहे, तीनों कालों में ऐसे कितने ही राजा हुए, मगर अंत में सभी (मायापति परमात्मा के स्मरण विना) यमपुरी को चले गये[2] । श्रीपति भगवान की कृपा बिना अत्यन्त पराक्रमी शत्रुओं का मर्दन करने वाले अहंकारी और साहसी, विश्वजयी वीर, रण-भूमि में विचलित न होने वाले रणधीर, मस्त हाथियों का मर्दन करने वाले योद्धा, बड़े-बड़े सेनापति, राजे-महाराजे, सामंत, महादानी, प्रबल एवं वैभवशाली शासक, योगी, यती, ब्रह्मचारी, बड़े-बड़े छत्रधारी (जिसके छत्रों की छाया कई कोस तक फैली हुई थी), बड़े-बड़े राजाओं के अहंकार को मिटा देने वाले मानधाता जैसे राजा, दिलीप जैसे चक्रवर्ती, दारा जैसे दिल्लीपति, दुर्योधन जैसे अहंकारी इस दुनिया में भोग भोगकर अंत में इसी में मिल गये । कुछ उदाहरण देखिए :

सुद्ध सिपाह दुरंत दुबाह सु साजि सनाह दुरजान दलैंगे ।
भारी गुमान भरे मन मै कर परबत पंख हलै न हलैंगे ।
तोर अरीर मरोर मवासन माते मतंगन मान मलैंगे ।
श्रीपति श्री भगवान क्रिपा बिनु तिआग जहानु निदान चलैंगे ।२५।
जोगी जती ब्रह्मचारी वड़े-वड़े छत्रधारी,
छत्र ही की छाइआ कई कोस लौ चलत हैं ।
वड़े-वड़े राजन के दाबति फिरति देस,
वड़े-बड़े राजन के द्रप को दलतु हैं ।
मान से महीप औ दिलीप कैसे छत्रधारी,
बड़ो अभिमान भुज दंड को करतु हैं ।

---

1. माते मतंग जरे जर संग अनूप उतंग सुरंग सवारे ।
कोट तुरंग कुरंग से कूदत पउन के गउन कउ जात निवारे ।
भारी भुजान के भूप भली बिधि निआवत सीस न जात विचारे ।
ऐते भए तो कहां भए भूपत अंत कौ नांगे ही पाइ पधारे ।२।२२।

2. जीत फिरै सभ देस दिसान को वाजत ढोल म्रिदंग नगारे ।
गुंजत गूड गजान के सुन्दर हंसत ही ह्य राज हजारे ।
भूत भविक्ख भवान के भूपत कउन गनै नहीं जात विचारे ।
श्रीपति श्री भगवान भजे बिनु अंत कउ अंत के धाम सिधारे ।२३।

दारा से दिलीसर द्रजोधन से मानधारी,
भोग भोग भूंम अंत भूंम मैं मिलत हैं।७८।

इस प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने स्पष्ट रूप से सांसारिक वैभव और ऐश्वर्य से मिलने वाले सुख को क्षणिक एवं नाशवान बताकर उनके मोह-त्याग पर बल दिया है। क्योंकि वे समझते थे कि धन-वैभव, बल-विक्रम से युक्त जितने भी जीव हैं वे भगवत्-भक्ति के बिना खप कर यहीं मिट जायेंगे[1]। इन सभी सुखों की सार्थकता भगवत्-भजन से ही है, उसके बिना सभी कुछ निरर्थक है। इसलिए जीव को इनसे विरक्त होकर परमात्मा के स्मरण में मन लगाना चाहिए। परन्तु इन आकर्षणों एवं सुखों से विरक्ति तभी संभव है, जब मनुष्य ज्ञान का प्रकाश पा ले। स्पष्ट है गुरु गोविन्दसिंह ब्रह्म ज्ञान के साथ-साथ विरक्ति के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं। परन्तु मुख्य भक्ति को ही मानते हैं। भक्ति की दृढ़ता और परिपक्वता के लिए इनकी बड़ी आवश्यकता है, ये उसके अंग हैं। गुरु जी की यह समन्वय-भावना तुलसीदास की इस पंक्ति के "श्रुति सम्मत हरि भगति, संजुत बिरति विवेक" के अत्यधिक निकट है। समन्वय मध्यकालीन भारतीय धर्म-साधना का, एक सामान्य एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सांसारिक सम्पदा के प्रति उनकी इस विरक्ति को ध्यान में रखते हुए हम डा० हरिभजन सिंह के इस कथन से सिद्धान्तरूप में बिल्कुल सहमत नहीं हैं कि गोविन्दसिंह के व्यक्तित्व में अपने पूज्य पिता की अपेक्षा ऐहिक-सम्पदा के प्रति कम अरुचि थी[2]। हम यह कह सकते हैं कि उन्हें न तो राजशक्ति की कामना थी न ही धन और ऐश्वर्य से कोई मोह था। धन-शक्ति यदि उन्हें इकट्ठी करनी थी तो केवल इसलिए कि उसकी 'धर्मयुद्ध' लड़ने के लिए आवश्यकता थी न कि निजी सुख-भोग के लिए :

"धर्म हेतु गुरु देव पठाये"।

'अकाल पुरुष' ने उन्हें धर्म स्थापना के जिस उद्देश्य से भेजा था, वह कार्य उन्होंने धर्मवीर और युद्धवीर दोनों प्रकार से किया। जहां वे साहसी शूरवीर थे और अन्याय, अधर्म, और अनीति के विरुद्ध अंत तक लड़ते रहे, वहां वे एक मननशील चिंतक, ब्रह्मज्ञानी और निष्ठावान भक्त थे। उन्होंने ब्रह्म, जीव, जगत, सृष्टि के स्वरूप का निरूपण अद्वैतवादियों की भांति अन्य सिक्ख गुरुओं की

---

1. अकाल उस्तुति—२७।
2. गुरुमुखी लिपि में हिन्दी काव्य, पृ० ७८।

परम्परा में, बड़ी गम्भीरता और विशदता से किया और साथ ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, मत-मतान्तरों के आडम्बरपूर्ण-वाह्याचारों, पाखंडपूर्ण साधना-पद्धतियों का विरोध और खंडन धर्मवीर के उत्साह से करते हुए सामान्य और सरल भक्ति मार्ग का महत्त्व स्थापित किया। उनकी वाह्य विविधता और विभेदता को मिटा कर आन्तरिक एकता का उद्घाटन किया। उन्होंने वार-वार इसी तथ्य पर जोर दिया कि मंदिर-मसीत, हिन्दू और मुसलमान, राम-रहीम, पुराण-कुरान, वेद-कतेव, एक ही हैं। सभी में उस ब्रह्म का प्रसार है, उसी का प्रकाश है। इसीलिए उन्होंने जाति-पांति, वर्ग-वैषम्य का विरोध करते हुए मानवीय एकता में विश्वास प्रकट किया और मानववादी भावना को प्रश्रय दिया।

उनका न तो मुसलमानों से विरोध था, न इस्लाम से। विरोध था उन आसुरी-शक्तियों से जो अन्याय, अधर्म, असत्य, अनीति, अत्याचार का प्रतीक थीं। किसी अन्य मत या सम्प्रदाय से भी उनका कोई विरोध नहीं था। विरोध था—वाह्याचार, आडम्वर, पाखंड, अंधविश्वास और अज्ञान से और जीवन पर्यन्त एक सच्चे धर्मयोद्धा की भांति वे उनके विरुद्ध लड़ते रहे। यह कहना गलत है कि जहां तुलसी जैसे भक्तों के लिए साधन और साध्य दोनों भक्ति है, वहां गुरु गोबिन्द-सिंह के लिए भक्ति मुख्यतः साधन ही है[1]। उनके लिए भी साध्य भक्ति ही है, युद्ध कर्म एक साधन मात्र है। वे साहसी योद्धा अवश्य थे और व्यक्ति के स्वाभिमान, राष्ट्र की स्वतंत्रता और धर्म की रक्षा के लिए भारतीयों में वीर-भावना जगाकर मुगलों के विरुद्ध लड़ने के लिए उन्हें खड़ा करना उनका एक मुख्य उद्देश्य था। इसी भावना को पैदा करने के लिए 'विचित्र नाटक' में भी उन्होंने लिखा है कि यवनों के विरुद्ध जो गुरु जी का साथ नहीं देगा, उस पर मुगल तो अत्याचार ढायेंगे ही, गुरु जी भी उसकी रक्षा नहीं करेंगे। उसे न इस लोक में सुख मिलेगा न उस लोक में, वह लोक-परलोक दोनों को विगाड़ेगा। इस तरह अधर्म और अन्याय के विरुद्ध इस प्रकार की विद्रोही-भावना उन्होंने जगाई अवश्य,[2] मगर उससे भी पहले वे परम संत थे और भगवत्-भक्ति में लीन रहकर परमात्मा के सान्निध्य को प्राप्त करना वे जीव का परम लक्ष्य मानते थे। वे सत्य का खड्ग, न्याय का खांडा और नीति की तुफंग और नाम का अग्निवाण लेकर धर्म-युद्ध के लिए निकले थे। और असत्य, अन्याय और दुराचार की प्रतीक आसुरी शक्तियों

1. गुरुमुखी लिपि में हिन्दी काव्य, पृ० ६४, डा० हरिभजन सिंह।
2. विचित्र नाटक, अध्याय १३ : ३--२५।

दारा से दिलीसर द्रजोधन से मानधारी,
भोग भोग भूंम अंत भूंम मै मिलत हैं ।७८।

इस प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने स्पष्ट रूप से सांसारिक वैभव और ऐश्वर्य से मिलने वाले सुख को क्षणिक एवं नाशवान बताकर उनके मोह-त्याग पर बल दिया है । क्योंकि वे समझते थे कि धन-वैभव, बल-विक्रम से युक्त जितने भी जीव हैं वे भगवत्-भक्ति के बिना खप कर यहीं मिट जायेंगे[1] । इन सभी सुखों की सार्थकता भगवत्-भजन से ही है, उसके बिना सभी कुछ निरर्थक है । इसलिए जीव को इनसे विरक्त होकर परमात्मा के स्मरण में मन लगाना चाहिए । परन्तु इन आकर्षणों एवं सुखों से विरक्ति तभी संभव है, जब मनुष्य ज्ञान का प्रकाश पा ले । स्पष्ट है गुरु गोविन्दसिंह ब्रह्म ज्ञान के साथ-साथ विरक्ति के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं । परन्तु मुख्य भक्ति को ही मानते हैं । भक्ति की दृढ़ता और परिपक्वता के लिए इनकी बड़ी आवश्यकता है, ये उसके अंग हैं । गुरु जी की यह समन्वय-भावना तुलसीदास की इस पंक्ति के "श्रुति सम्मत हरि भगति, संजुत बिरति विवेक" के अत्यधिक निकट है । समन्वय मध्यकालीन भारतीय धर्म-साधना का, एक सामान्य एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । सांसारिक सम्पदा के प्रति उनकी इस विरक्ति को ध्यान में रखते हुए हम डा० हरिभजन सिंह के इस कथन से सिद्धान्तरूप में बिल्कुल सहमत नहीं हैं कि गोविन्दसिंह के व्यक्तित्व में अपने पूज्य पिता की अपेक्षा ऐहिक-सम्पदा के प्रति कम अरुचि थी[2] । हम यह कह सकते हैं कि उन्हें न तो राजशक्ति की कामना थी न ही धन और ऐश्वर्य से कोई मोह था । धन-शक्ति यदि उन्हें इकट्ठी करनी थी तो केवल इसलिए कि उसकी 'धर्मयुद्ध' लड़ने के लिए आवश्यकता थी न कि निजी सुख-भोग के लिए :

"धर्म हेतु गुरु देव पठाये" ।

'अकाल पुरुष' ने उन्हें धर्म स्थापना के जिस उद्देश्य से भेजा था, वह कार्य उन्होंने धर्मवीर और युद्धवीर दोनों प्रकार से किया । जहां वे साहसी शूरवीर थे और अन्याय, अधर्म, और अनीति के विरुद्ध अंत तक लड़ते रहे, वहां वे एक मननशील चिंतक, ब्रह्मज्ञानी और निष्ठावान भक्त थे । उन्होंने ब्रह्म, जीव, जगत, सृष्टि के स्वरूप का निरूपण अद्वैतवादियों की भांति अन्य सिक्ख गुरुओं की

---

1. अकाल उस्तुति—२७ ।
2. गुरुमुखी लिपि में हिन्दी काव्य, पृ० ७८ ।

परम्परा में, बड़ी गम्भीरता और विशदता से किया और साथ ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, मत-मतान्तरों के आडम्बरपूर्ण-बाह्याचारों, पाखंडपूर्ण साधना-पद्धतियों का विरोध और खंडन धर्मवीर के उत्साह से करते हुए सामान्य और सरल भक्ति मार्ग का महत्त्व स्थापित किया। उनकी बाह्य विविधता और विभेदता को मिटा कर आन्तरिक एकता का उद्घाटन किया। उन्होंने बार-बार इसी तथ्य पर जोर दिया कि मंदिर-मसीत, हिन्दू और मुसलमान, राम-रहीम, पुराण-कुरान, वेद-कतेब, एक ही हैं। सभी में उस ब्रह्म का प्रसार है, उसी का प्रकाश है। इसीलिए उन्होंने जाति-पांति, वर्ग-वैषम्य का विरोध करते हुए मानवीय एकता में विश्वास प्रकट किया और मानववादी भावना को प्रश्रय दिया।

उनका न तो मुसलमानों से विरोध था, न इस्लाम से। विरोध था उन आसुरी-शक्तियों से जो अन्याय, अधर्म, असत्य, अनीति, अत्याचार का प्रतीक थीं। किसी अन्य मत या सम्प्रदाय से भी उनका कोई विरोध नहीं था। विरोध था—बाह्याचार, आडम्बर, पाखंड, अंधविश्वास और अज्ञान से और जीवन पर्यन्त एक सच्चे धर्मयोद्धा की भांति वे उनके विरुद्ध लड़ते रहे। यह कहना गलत है कि जहां तुलसी जैसे भक्तों के लिए साधन और साध्य दोनों भक्ति है, वहां गुरु गोविन्द-सिंह के लिए भक्ति मुख्यतः साधन ही है[1]। उनके लिए भी साध्य भक्ति ही है, युद्ध कर्म एक साधन मात्र है। वे साहसी योद्धा अवश्य थे और व्यक्ति के स्वाभिमान, राष्ट्र की स्वतंत्रता और धर्म की रक्षा के लिए भारतीयों में वीर-भावना जगाकर मुगलों के विरुद्ध लड़ने के लिए उन्हें खड़ा करना उनका एक मुख्य उद्देश्य था। इसी भावना को पैदा करने के लिए 'विचित्र नाटक' में भी उन्होंने लिखा है कि यवनों के विरुद्ध जो गुरु जी का साथ नहीं देगा, उस पर मुगल तो अत्याचार ढायेंगे ही, गुरु जी भी उसकी रक्षा नहीं करेंगे। उसे न इस लोक में सुख मिलेगा न उस लोक में, वह लोक-परलोक दोनों को बिगाड़ेगा। इस तरह अधर्म और अन्याय के विरुद्ध इस प्रकार की विद्रोही-भावना उन्होंने जगाई अवश्य,[2] मगर उससे भी पहले वे परम संत थे और भगवत्-भक्ति में लीन रहकर परमात्मा के सान्निध्य को प्राप्त करना वे जीव का परम लक्ष्य मानते थे। वे सत्य का खड्ग, न्याय का खांडा और नीति की तुफंग और नाम का अग्निबाण लेकर धर्म-युद्ध के लिए निकले थे। और असत्य, अन्याय और दुराचार की प्रतीक आसुरी शक्तियों

---

1. गुरुमुखी लिपि में हिन्दी काव्य, पृ० ६४, डा० हरिभजन सिंह।
2. विचित्र नाटक, अध्याय १३ : ३--२५।

की जड़ें हिलाने में उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई। उनका योग और भोग दोनों में विश्वास था। स्वाभिमान और स्वतन्त्रता तथा निर्भीकता से जगत में रहते हुए इसका भोग करना चाहिए, परन्तु इसमें कमलवत् निर्लिप्त भाव से रहना चाहिए और परम पिता परमात्मा से प्रेम का सम्बन्ध जोड़कर उससे योग (मिलन) प्राप्त करना चाहिए। सत्य, न्याय, संयम, संतोष, परोपकार, भूत-दया, सेवा, त्याग आदि इस पथ पर अग्रसर होने के लिए संबल हैं। देश-प्रेम, धर्म-प्रेम, प्राणी-प्रेम और प्रभु-प्रेम यही उनका अमर संदेश था। जाति-पांति, वर्ग-वर्ण भेद एवं वर्णाश्रम के कट्टर विरोधी और मानव-मात्र की एकता में दृढ़ विश्वास रखने वाले, सत्य और न्याय के लिए लड़ने वाले वे सच्चे धर्मवीर थे। उनकी जीवन दृष्टि आशामयी, उत्साहपूर्ण और आस्थावादी थी और जीवन-चर्या साहसपूर्ण, संयमित, संतुलित एवं सात्विक। उनको योद्धा का रूप संत की रक्षार्थ ही धारण करना पड़ा था। योद्धा-रूप धर्म-स्थापन का साधन था, साध्य नहीं। वस्तुतः, वे सही अर्थों में संत-योद्धा थे।

परिशिष्ट

गुरु गोबिन्दसिंह : एक शक्तिशाली व्यक्तित्व

उच्च नैतिक आदर्शों एवं उदात्त मानवीय गुणों से युक्त पवित्र आचरण-शील 'खालसा' के संस्थापक सिक्खों के अंतिम गुरु श्री गोविन्दसिंह जी निष्ठावान धर्म प्रवर्तक, सशक्त समाज-सुधारक, क्रांतिदर्शी लोकनायक, साहसी योद्धा, आस्थावान चिंतक एवं आशावादी राष्ट्रनायक थे। सेवा, त्याग, सदाचार एवं नाम-जाप आदि के द्वारा परम सत्य की उपलब्धि को जीवन का चरम लक्ष्य मानने वाले सिक्खों में उन्होंने उदात्त वीर-भावना का संचार किया और स्वयं अन्याय तथा अत्याचारों के विरुद्ध आजीवन संघर्ष करते रहे, फिर भी उनकी आध्यात्मिक-चेतना मूलतः पूर्व गुरुओं के ही अनुकूल थी। पूर्व गुरुओं की भांति उन्होंने भी धर्म-साधना के क्षेत्र में लोकतंत्रीय मूल्यों को महत्त्व दिया; कठोर परिश्रम एवं निष्ठापूर्वक कर्त्तव्य पालन द्वारा प्राप्त फल का औचित्यपूर्ण उपभोग ही लोकतंत्रीय पद्धति का मूल-आधार है। सिक्खमत में सभी मनुष्यों को धर्म-साधना का समान अधिकार दिया गया है और इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी भी वंशगत अथवा जातिगत वैशिष्ट्य के बिना निस्वार्थ सेवा, अहंकार-त्याग एवं एकनिष्ठ भक्ति द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। सिक्खों की गुरु-परम्परा सेवा और बलिदान की अपूर्व कहानी है। उसमें गुरु-पद का वही अधिकारी होता था, जो अपने सद्गुणों के कारण इसके योग्य हो। वंश-परम्परा अथवा आयु को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। गुरु नानकदेव ने श्रीचंद और लक्ष्मीचंद नाम के अपने दोनों पुत्रों को अपना उत्तराधिकारी नहीं बनाया, वरन् सेवा, त्याग, एवं आज्ञाकारिता से सम्बन्धित अनेक कठिन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने वाले अपने निष्ठावान् शिष्य लहना को गुरुपद पर आसीन किया, जो बाद में उनके अंगरूप होने के कारण अंगद कहलाए। गुरु अंगददेव ने भी सेवा की प्रतिमूर्ति अमरदास को ही इस पद के योग्य समझा। गुरु अमरदास ने तो रामदास नाम के एक यतीम बालक के सद्गुणों पर रीझ कर उसे गुरुपद पर ही प्रतिष्ठित नहीं किया, वरन् अपनी

पुत्री का हाथ भी उसे सौंप दिया, भले ही उनके पुत्रों तक ने उनका विरोध किया। गुरु रामदास के पश्चात् गुरुता यद्यपि उसी वंश में रही, पर उसमें भी योग्यता ही निर्वाचन का आधार रही न कि आयु। स्वयं गुरुदास ने अपने बड़े लड़कों को गुरुपद न देकर, सबसे छोटे पुत्र अर्जुनदेव को इस पद के योग्य समझा, जिन्होंने समय आने पर अपनी बलि देकर अपनी योग्यता का प्रचुर प्रमाण दिया। गुरु गोविन्दसिंह ने इस लोकतंत्रीय परम्परा को जीवित ही नहीं रखा, वरन् इसे और अधिक सुदृढ़ एवं सशक्त बनाया। उन्होंने पंथ को गुरुता प्रदान की और 'खालसा' की स्थापना के पश्चात् यह आदेश जारी किया कि पांच या उनसे अधिक गुरु सिक्खों का सम्मिलित निर्णय गुरु आदेश समझा जाए। इस संस्था को 'गुरुमता' का नाम दिया गया। धर्म में लोकतंत्रीय आदर्शों की स्थापना का यह अनूठा उदाहरण है। इस संस्था को पूरी प्रतिष्ठा देने के लिए उन्होंने स्वयं उसके आदेशों का पालन करके दिखाया। 'खालसा' की स्थापना के समय पंच-प्यारों को अमृत-छकाने के पश्चात् वे उनसे स्वयं अमृत-पान कर दीक्षा ग्रहण करते हैं। गुरु द्वारा शिष्यों से इस प्रकार दीक्षा ग्रहण करने की यह घटना सभी धर्मों के इतिहास में अकेली और विशिष्ट घटना है। यही नहीं अपने लोकतंत्रीय विश्वास को भली भांति प्रतिष्ठित करने के लिए तथा गुरु सिक्खों की इस सिद्धान्त के प्रति निष्ठा परखने के लिए गुरु गोविन्दसिंह ने एक अनूठी युक्ति से काम लिया। यह जानते हुए भी कि समाधि पूजा गुरुमत विरोधी है उन्होंने संत दादू की समाधि के प्रति सम्मान प्रकट किया। सिक्ख संगत ने अपनी दृढ़ता का परिचय दिया। उन्होंने गुरु जी को दोषी ठहराया और सिक्खों के प्रिय और अपने सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान गुरु जी ने उनके द्वारा निर्धारित दण्ड को सहर्ष स्वीकार किया। दशमगुरु ने सदैव 'गुरुमता' के निर्णयों एवं आदेशों का पालन किया। इसका एक उदाहरण तब प्रस्तुत होता है, जब चमकौर युद्ध में सिक्खों की भयंकर क्षति हो रही थी। आसन्न विपत्ति को देखकर गुरु-सिक्खों ने यह निर्णय किया कि गुरु जी को कुछ सिक्खों को युद्ध के लिए छोड़ कर स्वयं पिछवाड़े से निकल कर सुरक्षित स्थान पर चले जाना चाहिए। गुरु गोविन्दसिंह अपने अनुयायियों को युद्ध की आग में झोंक कर खुद बच निकलने को कदापि तैयार नहीं थे। परन्तु जब सिक्खों ने उन्हें उनका आदेश याद दिलाया तो 'गुरुमता' के निर्णय के सम्मुख उनको झुकना पड़ा और वे वह स्थान छोड़ कर चले गए। यह संस्था आने वाले समय में कितनी उपयोगी सिद्ध हुई, सिक्ख इतिहास इसका साक्षी है। एक क्रांतिदर्शी लोकनायक ही ऐसे दूरगामी परिणामों की कल्पना कर सकता है।

अपनी इस लोक लीला का अन्त निकट आया जानकर उन्होंने 'गुरु ग्रंथ साहव' को गुरुता प्रदान की और इस प्रकार गुरुपद प्राप्ति के लिए सम्भावित संघर्षों एवं गुरु-व्यक्ति में आ जाने वाले सम्भावित दुर्गुणों की आशंकाओं से 'पंथ' को मुक्त कर उसकी उन्नति की सम्भावनाओं को सुरक्षित करके अपनी दूर-दर्शिता एवं नेतृत्व-योग्यता का परिचय दिया।

गुरु गोविन्दसिंह तथा अन्य सिक्ख-गुरुओं ने अपनी धर्म-साधना में सामाजिक न्याय को अत्यधिक महत्त्व दिया है। भारतीय समाज की जातिगत विषमता की रूढ़िग्रस्त व्यवस्था के स्थान पर सामाजिक समता एवं मानवीय एकता की भावना को प्रश्रय देने के लिए 'लंगर' प्रथा का सूत्रपात किया। गुरु गोविन्दसिंह ने भी जिस समय 'खालसा' की स्थापना की तो सामाजिक-विषमता की खाई को पाटने के लिए एक सम्मिलित भोज का आयोजन किया, जिसमें वर्ण अथवा वर्ग का कोई भेद नहीं रखा गया था। वस्तुतः गुरु गोविन्दसिंह एक गत्यात्मक (dynamic) समाज की स्थापना करना चाहते थे। धर्म साधना के क्षेत्र में भी वे वैयक्तिक साधना के साथ-साथ सामूहिक साधना एवं मानव-कल्याण पर अधिक बल देते थे। गुरु नानक का कथन है कि सच्चा साधक वही है, जो साधना द्वारा अपना मुख तो उज्ज्वल करता ही है, औरों का भी उद्धार करता है। वह स्वयं तो भव-सागर को तरता ही है औरों को भी पार कराता है। गुरु गोविन्द-सिंह जव भी अपने इष्टदेव के सामने 'अरदास' करते थे, वे अपने सिक्खों की मंगल-कामना पहले करते थे। 'अरदास' का यह रूप सिक्खों में अभी भी प्रचलित है, जिसमें लोक-मंगल की भावना निहित है। सिक्ख-साधना में सेवा को भी अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, जिसका सामाजिक उत्तरदायित्व से गहरा सम्बन्ध है। 'वंड खाना' का सिद्धान्त शोषण-प्रक्रिया का प्रतिद्वन्द्वी है। गुरु गोबिन्दसिंह इन सिद्धान्तों के सबल समर्थक थे। वे सामाजिक, राजनैतिक अथवा धार्मिक किसी भी प्रकार के शोषण अथवा अत्याचार के शिकार दीन वर्ग के सब से बड़े सहायक और संरक्षक थे। अपने इष्टदेव को भी वे 'गरीवुल निवाज' कहा करते थे, और स्वयं को उनका 'दास' या कीट समान कहकर अपने को भी 'दीनों' की पंगत में खड़ा करते थे। क्योंकि उन्हें वे अपना ही अंग समझते थे। इस वर्ग को अत्यधिक प्रतिष्ठा देते हुए वे कहते हैं कि उन्हीं की सहायता से उन्होंने युद्धों में विजय प्राप्त की और उन्हीं के सहारे सव शत्रुओं का विनाश किया—

जुद्ध जिते इनहीं के प्रसादि
इनहीं के प्रसादि सुदल करे।

इनहीं के प्रसादि सुविधा लइ
इनहीं की कृपा सभ सत्रु मरे ।

वस्तुत:, 'दीनों' का ऐसा समर्थ हित-चिंतक, रक्षक, उद्धारक और मददगार इस युग में और कोई दिखाई नहीं देता । इनके उद्धार के लिए वे परमात्मा से अरदास ही नहीं करते, अपितु उन्होंने अन्याय-पीड़ित इस वर्ग पर हो रहे अत्याचारों के विरुद्ध लड़ने के लिए धर्म युद्ध का आयोजन किया । उनका व्यक्तित्व तड़ित सा तेजस्वी और सिंह सा सशक्त था तथा 'दीनों' के उद्धार के लिए वे अदम्य-साहस और अजेय शक्ति के साथ युग की अनाचारी शक्तियों से जूझ पड़े । सत्य और न्याय की रक्षा के लिए उन्होंने अपने पुत्रों तक को वार दिया और स्वयं आजीवन विपत्तियों का सामना करते रहे ।

'विचित्रनाटक' में वे लिखते हैं—

हम इह काज जगत मो आए । धरम हेतु गुरुदेव पठाए ।
जहां-तहां तुम धरम विथारो । दुसर दोखयनि पकरि पछारो ।

नि:सन्देह वे 'दुष्टों' के विनाश के लिए ही अवतरित हुए थे । 'दुष्टों' से यहां अभिप्राय किसी शासक विशेष या धर्म-विशेष के अवलम्वी से नहीं हैं । जो भी व्यक्ति सामाजिक अन्याय करते थे अथवा धार्मिक आतंक फैलाते थे, वे सभी उनके लिए दुष्ट थे, और उनके विनाश के लिए वे सदा कटिवद्ध रहे । पूर्व-गुरुओं ने गुरु-भेंट एकत्रित करने के लिए स्थान-स्थान पर 'मसन्दों' की स्थापना की थी, परन्तु कालान्तर में वे सिक्खों से अन्यायपूर्ण रीति से धन संग्रह करने लगे । दशम-गुरु ने उन्हें भी दुष्टों की श्रेणी में स्थान दिया और उनका अन्त किया । वे प्रत्येक सिक्ख में अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध ऐसी विद्रोहात्मक भावना पैदा करना चाहते थे कि वे प्राणों की वाज़ी लगाकर भी उसका विरोध करें । जोरावरसिंह, जुझारसिंह और हकीकत इसी प्रेरणा के फल थे । कभी-कभी ही ऐसा प्रेरणादायक अध्यात्म-सेनानी इस भूतल पर अवतरित होता है ।

गुरु गोविन्दसिंह एक साहसी शूरवीर और कुशल सेना-नायक भी थे । वे जानते थे कि युद्ध किस प्रकार लड़े जाते हैं, और सैनिकों में युद्धोत्साह कैसे पैदा किया जाता है । वे एक ओजस्वी कवि थे और अनेक शौर्यपूर्ण वीर-गाथाओं द्वारा वीरों के रणोत्साह को उत्तेजित करते थे, दूसरे स्वयं युद्ध भूमि में अपने पराक्रम एवं शौर्य-प्रदर्शन से उनमें साहस का संचार करते थे । वे गज़व के तीर-अंदाज़ और खडगधारी थे तथा स्वयं सेना के आगे होकर शत्रु-सेना को सिंह की

भांति ललकारते थे। उनके साहसपूर्ण कृत्यों एवं ओजस्वी उक्तियों ने उनके शिष्यों को जो प्रायः साधारण कृषक वर्ग के होते थे, ऐसा अद्भुत शक्ति सम्पन्न सिंह बना दिया था कि वे शत्रु को उसकी मांद में पकड़ने का साहस रखते थे। बचित्रसिंह द्वारा युद्ध-भूमि में नेजे द्वारा मस्त हाथी को मार भगाने की घटना उनके व्यक्तित्व के इस पक्ष को मुखरित करती है कि वीरों में रणोत्साह उत्पन्न करने की उनमें कितनी अद्भुत क्षमता थी। जब वे अपने हाथों उस वीर की रण-सज्जा करते हैं, अपने निजी अमोघ-अस्त्र उसके हाथ में देते हैं और अपने आशीर्वाद का अतुल बल देकर युद्ध-भूमि में भेजते हैं, फिर भला विजय मुकट उसके सिर पर क्यों न बंधता। ऐसे सुयोग्य सेना-नायक को पाकर कोई भी सैनिक धन्य हो सकता है।

अत्यन्त विकट परिस्थितियों में भी गुरु जी चिंतामुक्त और शान्त रहते थे तथा अत्यन्त धैर्य एवं सूझ-बूझ से काम लेते थे। एक बार शत्रु-दल आनन्दपुर को काफी समय तक घेरे रखता है और भीतर जाने के पानी तक के सभी स्रोत रोक दिये जाते हैं, परन्तु अन्न-जल के उस भयंकर संकटकाल में भी गुरु जी बड़े धैर्य से काम लेते हैं। सिक्ख वृक्षों की छाल खा-खाकर निर्वाह कर रहे थे और पानी के अभाव में क्षुब्ध थे। गुरु जी उनकी कठिनाइयों के प्रति जागरूक थे, मगर वे कोई ऐसा कदम नहीं उठाना चाहते थे, जिससे सिक्खों की अनावश्यक प्राण हानि हो। एक बार शत्रु ने यह प्रस्ताव रखा कि यदि गुरु जी आनन्दपुर छोड़कर जाना चाहें, तो वे उन्हें कुछ न कहेंगे। सिक्खों ने गुरु जी को यह प्रस्ताव स्वीकार करने की प्रार्थना की परन्तु गुरु जी जानते थे कि शत्रु छल-बल से काम ले रहा है। फिर भी सिक्खों के आग्रह करने पर वे अपना कुछ सामान गड्डों में लदवा कर भेज देते हैं और यह घोषणा कर देते हैं कि यदि उनका सामान सुरक्षित चला गया तो फिर वे भी आनन्दपुर छोड़ कर चले जाएंगे। शत्रुदल ने धन-दौलत समझकर गड्डों को खूब लूटा, मगर उनके हाथ ईंटें और पत्थर ही लगे, गुरु जी यूं ही उनके जाल में फंसने वाले नहीं थे। वे युद्ध-नीति को अच्छी तरह समझते थे और अनुकूल अवसर पर ही वहां से निकलना चाहते थे। ऐसा दूरदर्शी, कुशल-नीतिज्ञ, साहसी और धीर-योद्धा ही विकट परिस्थितियों में राष्ट्र का नेतृत्व कर सकता है।

सिंह के समान शत्रु को उसकी मांद में ललकारने वाला, पर्वत से टकरा जाने वाला, वज्र से भी अधिक कठोर, भारतीय संस्कृति का उन्नायक और हिन्दू-धर्म का रक्षक यह तेजस्वी संत-सिपाही अपने इष्टदेव के सम्मुख कुसुम से भी

अधिक कोमल और शिशु से भी अधिक विनम्र दिखाई पड़ता है। वस्तुतः, वे तेज के पुंज, शक्ति और साहस के समुच्चय, उदारता और सहिष्णुता के कोश और कोमलता एवं विनम्रता के भंडार थे। उनके चित्त में नामस्मरण और हाथों में खड्ग होती थी। सामाजिक समता, मानवीय एकता एवं धार्मिक-उदारता में उनका अडिग विश्वास था और अनीति एवं अत्याचार के वे कड़े शत्रु थे। अकाल-पुरुष के स्वरूप निरूपण में उन्होंने विरोधी तत्त्वों का समन्वय दिखाया है। वह करुणामय और गरीबुल-निवाज़ भी है और क्रूर-कर्मी—दुष्ट संहारक भी। गुरु गोबिन्दसिंह स्वयं अकाल-पुरुष के अंश थे और उनके चरित्र में भी इन्हीं विरोधी-गुणों का समन्वय था। वे सचमुच एक शक्तिशाली एवं गत्यात्मक युग-पुरुष के व्यक्तित्व के धनी थे।

Indian Institute of Advanced Study
Acc. No. 76610
Date 18.7.94
Simla

Library IIAS, Shimla
H 294.66 G 748 G
00076610